UTKAL UNIVERSITY
NAAC ACCREDITED A+

MASTER OF ARTS
IN HINDI

SEMESTER-I

भारतीय काव्यशास्त्र

CREDIT: 4

Paper - 1.3
BLOCK: 1,2,3 & 4

AUTHOR
Dr. Sudhansu Ku. Nayak

UTKAL UNIVERSITY
C.D.O.E
ଦୂର ଓ ଅନ୍‌ଲାଇନ ଶିକ୍ଷା କେନ୍ଦ୍ର, ଉତ୍କଳ ବିଶ୍ୱବିଦ୍ୟାଳୟ
CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION
UTKAL UNIVERSITY

UTKAL UNIVERSITY
NAAC ACCREDITED A+
CDOE

ABOUT THE UNIVERSITY

Founded in 1943, Utkal University is the 17th University of the country and the first of Orissa. It is the result of the efforts of Pandit Nilakantha Dash, Maharaja Krushna Chandra Gajapati, Pandit Godavarish Mishra and many others who envisioned a progressive education system for modern Odisha.

The University started functioning on 27 November 1943, at Ravenshaw College, Cuttack. It originated as an affiliating and examining body but shifted to its present campus spread over 400 acres of land at Vanivihar in Bhubaneswar, in 1962.

A number of Postgraduate Departments and other centres were established in the University campus. There are presently more than two hundred general affiliated colleges under the University. It has eleven autonomous colleges under its jurisdiction, twenty-eight constituent postgraduate departments, 2 constituent law colleges and a Directorate of Distance & Continuing Education. It boasts of a centre for Population Studies, a School of Women's Studies, an Academic Staff College, a pre-school and a high school. The University also offers a number of self-financing courses.

NAAC accredited in its 3rd cycle with A+ status in 2023. It is a member of the Indian Association of Universities and the Commonwealth Association of Universities.

CENTRE FOR DISTANCE & ONLINE EDUCATION
UTKAL UNIVERSITY: VANI VIHAR
BHUBANESWAR:-751007

From the Director's Desk

The Centre for Distance and Online Education, originally established as the University Evening College way back in 1962 has travelled a long way in the last 52 years. **'EDUCATION FOR ALL'** is our motto. Increasingly the Open and Distance Learning institutions are aspiring to provide education for anyone, anytime and anywhere. CDOE, Utkal University has been constantly striving to rise up to the challenges of Open Distance Learning system. Nearly one lakh students have passed through the portals of this great temple of learning. We may not have numerous great tales of outstanding academic achievements but we have great tales of success in life, of recovering lost opportunities, tremendous satisfaction in life, turning points in career and those who feel that without us they would not be where they are today. There are also flashes when our students figure in best ten in their honours subjects. Our students must be free from despair and negative attitude. They must be enthusiastic, full of energy and confident of their future. To meet the needs of quality enhancement and to address the quality concerns of our stake holders over the years, we are switching over to self instructional material printed courseware. We are sure that students would go beyond the course ware provided by us. We are aware that most of you are working and have also family responsibility. Please remember that only a busy person has time for everything and a lazy person has none. We are sure, that you will be able to chalk out a well planned programme to study the courseware. By choosing to pursue a course in distance mode, you have made a commitment for self improvement and acquiring higher educational qualification. You should rise up to your commitment. Every student must go beyond the standard books and self instructional course material. You should read number of books and use ICT learning resources like the internet, television and radio programmes etc. As only limited number of classes will be held, a student should come to the personal contact programme well prepared. The PCP should be used for clarification of doubt and counseling. This can only happen if you read the course material before PCP. You can always mail your feedback on the course ware to us. It is very important that one should discuss the contents of the course materials with other fellow learners.

We wish you happy reading.

DIRECTOR

Centre for Distance and Online Education, Utkal University, Bhubaneswar.

Program Name: Master of Arts in Hindi — Program Code: 010308

Course Name: Bhartiya Kavya Shastra — Course Code: HIN 1.3

Semester: I — Credit: 4 — Block No. 1 to 4 — Unit No. 1 to 16

EXPERT COMMITTEE: -

Dr. Smarapriya Mishra
Retd. Prof. from Ravenshaw University

Dr. Ravindranath Mishra
Retd. Prof. & former HOD,
Visva Bharati,Santiniketan

Dr. Radhakant Mishra
Retd. Prof. from Utkal University

Dr. Sudhansu Ku. Nayak
Retd. Reader, Berhampur University

COURSE WRITER:

Dr. Sudhansu Ku. Nayak
Retd. Reader, Berhampur University

COURSE EDITORS:

Dr. Manju Modi
Retd. Reader in Hindi
S.B. Women's College, Cuttack

Dr. Laxmidhar Dash
Retd. Principal, HTTI, Cuttack

Dr. Pragyan Paramita
Faculty in Hindi, CDOE, Utkal University

PUBLISHED BY

Center for Distance and online Education(CDOE), Utkal University
Bhubaneswar-751007

M.A. (Hindi) Semester - I

PAPER - 3

भारतीय काव्यशास्त्र

Block No	Block	Unit No.	Unit
1	काव्य स्वरूप	1	काव्य का स्वरूप
		2	काव्य लक्षण
		3	काव्य - हेतु
		4	काव्य प्रयोजन
2	काव्य सिद्धांत (रस सिद्धांत)	5	भारतीय काव्य सिद्धांत
		6	रस सिद्धांत
		7	रस निष्पत्ति
		8	साधारणीकरण
3	काव्य सिद्धांत (अलंकार, रीति, वक्रोक्ति सिद्धांत)	9	अलंकार सिद्धांत
		10	रीति सिद्धांत
		11	रीति का शास्त्रीय विवेचन
		12	वक्रोक्ति सिद्धांत
4	हिंदी आलोचना	13	समाजशास्त्रीय आलोचना
		14	मनोविश्लेषणवादी आलोचना
		15	सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना
		16	शैलीवैज्ञानिक आलोचना

M.A. (Hindi) PAPER-III

भारतीय काव्यशास्त्र

ईकाई–१

(काव्य स्वरूप, हेतु और प्रयोजन)

इकाई की रूपरेखा

१.० अभिप्राय

१.१ प्रस्तावना

१.२ काव्य का स्वरूप

१.२.१ काव्य का आभिधानिक अर्थ

१.२.२ काव्य और कविता

१.३ काव्य की परिभाषा

१.३.१ विभिन्न आचार्यों के मत

१.४ काव्य लक्षण

१.४.१ सामान्य लक्षण

१.४.२ विशेष लक्षण

१.४.३ हिंदी आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य लक्षण

१.५ काव्य - हेतु

१.५.१ परिभाषा

१.५.२ स्वरूप

१.५.३ भारतीय आचार्यों के मत

१.५.४ प्रतिभा

१.५.५ व्युत्पत्ति

१.५.६ अभ्यास

१.६ काव्य प्रयोजन

१.६.१ विभिन्न आचार्यों द्वारा विवेचन

१.६.२ मम्मट का मत

१.७ उपसंहार

१.८ संभाव्य प्रश्न

१.९ संदर्भ ग्रंथ सूची

१.० अभिप्राय

संसार-विषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले ।
काव्यामृतरसास्वाद: संगम: सज्जनै: सह ॥

संसार रूपक विषवृक्ष के दो ही मधुर फल हैं - काव्यास्वादन और सत्संगति । काव्य का आस्वादन पाठक अपने-अपने ढंग से करते हैं । उसका सही आस्वादन करने के लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है । भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से काव्यशास्त्र का विवेचन किया है । आधुनिक काव्य में भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय दिखाई पड़ता है । नये-नये वाद और नई-नई विधाओं का विकास हुआ है । साहित्य के विद्यार्थियों को इन सबका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वे सही ढंग से काव्य का आस्वादन कर सकेंगे । इस बात को ध्यान में रखते हुए स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में काव्यशास्त्र रखा गया है ।

भारतीय काव्यशास्त्र की ईकाई-१ का मुख्य अभिप्राय है विद्यार्थियों को काव्य के संबंध में सामान्य जानकारी से परिचित कराना । काव्य क्या है, काव्य -सृजन क्यों किया जाता है, काव्य का प्रयोजन क्या है - उन्हीं मुख्य बिन्दुओं पर उन ईकाई में चर्चा की जाएगी ।

१.१ प्रस्तावना

काव्य का स्वरूप और उसके लक्षणों से परिचित होने के लिए काव्य का अभिधानिक अर्थ, विभिन्न विद्वानों द्वारा काव्य के बारे में दी गई परिभाषाएँ आदिकी चर्चा की जाएगी । उसके उपरान्त काव्य सृजन के कारणों के बारे में विभिन्न आचार्यों के मत का बिश्लेषण किया जाएगा एवं अंत मे विभिन्न आचार्यों के मतानुसार काव्य की प्रयोजनीयता पर चर्चा की जाएगी ।

१.२ काव्य का स्वरूप

स्वरूप का मतलब है पहचान । काव्य क्या है या काव्य किसे कहते हैं, इसकी पहचान ही काव्य का स्वरूप है ।

किसी भी वस्तु की तरह काव्य का अर्थ भी दो प्रकार से देखा जा सकता है -

(१) अभिधानिक अर्थ

(२) पारिभाषिक अर्थ

अभिधानिक अर्थ का मतलब है सामान्य अर्थ या शब्दकोश में दिया गया अर्थ, जिसे सामान्यत: आम लोग समझते हैं ।

पारिभाषिक अर्थ विद्वानों द्वारा परिभाषित अर्थ है । सभी बातों को केवल अभिधान या शब्दकोश द्वारा समझा नहीं जा सकता । इसलिए विद्वानों को उसे परिभाषित करना पड़ता है ।

परिभाषा सामान्यत: सूत्ररूप में होती है, जिसकी व्याख्या करना आवश्यक होता है । यही व्याखा ही पारिभाषिक अर्थ है, जो किसी भी तत्व का संपूर्ण स्वरूप प्रकट करता है ।

१.२.१ काव्य का अभिधानिक अर्थ

भारतीय अभिधान में काव्य का अर्थ इस प्रकार बताया गया है - 'कवेरिदं कार्यभावो वा' - अर्थात् कवि के द्वारा संपन्न किये जानेवाला कार्य, अत: कविकी कृति काव्य है ।

कवि-कर्म को कविता भी कहते हैं । असल में काव्य और कविता पर्यायबाची हैं, किन्तु सामान्य व्यवहार में काव्य और कविता में अंतर परलक्षित होता है ।

१.२.२ काव्य और कविता

व्यापक रूप से छन्दोबद्ध रचना के लिए 'कविता' शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु संकीर्ण और खासकर आधुनिक काल में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत आकार में क्षुद्र पद्यविशेष के लिए किया जाता है ।

काव्य शब्द से सामान्यत: कविता से अपेक्षाकृ वड़ी, प्राय: प्रबन्धात्मक रचना का अर्थ सूचित होता है । किन्तु शास्त्रीय दृष्टिसे दोनों काव्य ही के अंतर्गत आते हैं । प्राचिन भारतीय आचार्यों ने काव्य और कविता को समान अर्थ में प्रयुक्त करते हुए काव्य का स्वरूप निर्धारित किया है ।

१.३ काव्य की परिभाषा

काव्य को एक निश्चित परिभाषा में बाँधने का प्रयास युग - युगों से होता रहा है । प्रत्येक युग में पूर्ववर्ती परिभाषाओं को अपूर्ण माना गया है एवं नई परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं । किन्तु काव्य की कोई भी परिभाषा परिपूर्ण एवं निर्दोष नहीं कही जा सकती । हर परिभाषा काव्य के किसी महत्वपूर्ण एवं सूक्ष्म तत्व पर प्रकाश डालती है एव सभी परिभाषाएँ मिलकर काव्य के स्वरूप को उद्घाटित करती हैं ।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की परिभाषा का प्रश्न काव्य को आत्मा के विवेचन से संबन्धित है । काव्य की आत्मा के संबंध में आचार्यों में मतभेद रहा है । भरतमुनि, विश्वनाथ आदि ने रस को काव्य की आत्मा माना है तो दण्डी, भामह आदि ने अलंकार को काव्य की आत्मा बताया है । आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकारा है तो वामन ने रीति को । कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है तो क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य । इस प्रकार अलग-अलग तत्व पर बल देने के कारण काव्य की अलग अलग परिभाषाएँ बनीं । काव्य का स्वरूप जानने के लिए भिन्न - भिन्न आचार्यों द्वारा दी गई भिन्न-भिन्न परिभाषाओं की चर्चा करना आवश्यक है ।

१.३.१ विभिन्न आचार्यों के मत

भरतमुनि

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनम उपलब्ध ग्रंथ है । इससें उन्होंने काव्य को सरस, मधुर एवं स्पष्ट ललित पदावली से समन्वित होना आवश्यक माना है । उनकी यह उक्ति दृश्यकाव्यया नाटक को दृष्टि में रखकर कही जोने पर भी सरसता या रस काव्य में अनिवार्य तत्व जैसा प्रतिपादित होता है ।

अग्निपुराण

अग्निपुराण में काव्य की एक व्यापक परिभाषा दी गई है । इसके अनुसार काव्य अभीष्ट अर्थ को व्यंजित करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य है जो दोष रहित और गुण सहित अलंकृत हो । इस परिभाषा में निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया है -

(क) सुसंहत पदयोजना

(ख) अभीष्टार्थ व्यंजक अभिव्यक्ति

(ग) अलंकृति

(घ) काव्यदोषों का अभाव

(ङ) काव्यगुणो का अन्तर्भाव ।

यह परिभाषा काव्य के बाह्य सौन्दर्य को दर्शाती है ।

भामह

आचार्य भामह की परिभाषा है - 'शब्दार्थों सहितौ काव्यम् ।' अर्थात् जिस रचना में सार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया हो वह काव्य है ।

इस परिभाषा से काव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि किसी भी रचना में शब्द और अर्थ का होना आवश्यक है ।

दण्डी

दण्डी ने अपनी परिभाषा में शब्द और अर्थ से आगे बढ़कर उन दोनोंको संघटित कर सजानेवाले तत्व अलंकार को अधिक महत्व दिया है । किन्तु अलंकार शोभा को बढ़ाती है, यह काव्य नहीं है ।

रुद्रट

रुद्रट ने काव्य की परिभाषा भामह की परिभाषा के अनुरूप दी है - 'ननु शब्दार्थों काव्यम्', अर्थात् शब्द और अर्थ ही काव्य है । यह परिभाषा भी भामह की परिभाषा की तरह अस्पष्ट है, क्योंकि शब्द और अर्थ के बिना कोई भी रचना हो ही नहीं सकती ।

वामन

बामन ने काव्य की एक व्यापक परिभाषा देने का प्रयास किया है । उनके अनुसार गुणों और अलंकारों से सुसंयुक्त शब्दार्थ काव्य है । गुण सौन्दर्य- उत्पादक तत्व है और अलंकर सौन्दर्य की वृद्धि करनेवालां ।

काव्य की यह सौन्दर्यपरक परिभाषा काव्य की अंतरात्मा को परिभाषित नहीं करती ।

कुन्तक

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक कुन्तक ने उस व्यवस्थित सहभाव को काव्य माना है जो कवि व्यापार अर्थात् वक्रोक्ति कौशल से युक्त तथा आह्लादक हो । वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक, रूचिर तथा सुगढ़ तत्व है जिसके अस्तित्व कें ऊपर काव्य की चमत्कृति का संचार होता है ।

कुन्तक की यह परिभाषा काव्य की चमत्कृति को दर्शाती है ।

मम्मट

काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार दोष रहित, गुणसहित एवं अलंकार युक्त या अलंकार विरहित शब्दार्थ काव्य है । इस परिभाषा में काव्य का निर्दोष होना अनिवार्य बताया गया है । किन्तु गुण और दोष आवश्यक बात नहीं है । परिभाषा में उसी की बात होनी चाहिए जो आवश्यक है ।

वाग्भट

वाग्भट के अनुसार गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त साधु शब्दार्थ काव्य है ।

यह एक व्यापक परिभाषा है, जिसमें काव्य के सभी तत्वों को महत्व दिया गया है ।

जयदेव

जयदेव ने पूर्ववर्ती आचार्यो के काव्य-संबंधी सभी मान्यताओं का समाहार करते हुए और अधिक व्यापक परिभाषा दी है । उनके अनुसार दोषरहित, गुण, अलंकार, रीति, रस तथा वृत्ति से युक्त वाक्य काव्य है ।

इसे काव्य के लक्षण के रूप में देखा जा सकता है, परिभाषा के रूप नें नहीं ।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रसयुक्त वाक्य ही काव्य है - 'वाक्यं रसामकं काव्यम् ।' वाक्य का मतलब सार्थक शब्दसमूह से है जिसे अभिव्यक्ति पक्ष या कला पक्ष कहा जा सकता है । रसात्मकता अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष को सूचित करती है । इस तरह इस संक्षिप्त परिभाषा में काव्य के सभी तत्व समा जाते हैं। इसलिए यह काव्य की सर्वमान्य परिभाषा मानी गई है ।

जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है - 'रसणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' । इसमें रमणीय अर्थ का मतलब है आह्लाद देने वाला अर्थ । इसमें भी मन आह्लाद युक्त हो जाता है । अतः रमणीयता में रस का भाव संलग्न है । इसमें रस के अलावा चमत्कार भी है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं से आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा ही सर्वमान्य है - 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।' इसमे काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष अथवा अनुभूतिपक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष, दोनों का समावेश है । काव्य का केवल दोष रहित होना एवं गुण और अलंकारों से युक्त होना पर्याप्त नहीं है, उसनें आनन्द प्रदान करनेवाला रस का होना अनिवार्य है । रस ने भी रमणीयता या चमत्कार आ ही जाता है । अतः प्राचीन भारतीय आचार्यों की परिभाषाओं में यह सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें अन्य सभी परिभाषाओं का समावेश हो जाता है । अतः रसयुक्त वाक्य ही काव्य है ।

१.४. काव्य-लक्षण

परिभाषा, स्वरूप और लक्षण मूलत: एक ही हैं, परिभाषा में जो बात सूत्र रूप में कही जाती है उसका अर्थ बताना स्वरूप है और उसका विशद विश्लेषण लक्षण है ।

यहाँ भारतीय आचार्यों द्वारा बताये गये काव्य-लक्षणों की चर्चा अपेक्षित है । यह चर्चा तीन बिन्दुओं में की जाएगी प्राचीन आचार्यों द्वारा बताये गये काव्य के सामान्य लक्षण, विशेष लक्षण एवं हिन्दी के आचार्यों द्वारा स्वीकृत लक्षण ।

१.४.१ सामान्य लक्षण

सामान्यत: शब्द और अर्थ के यथोचित संयोजन को भारतीय आचार्यों ने काव्य का लक्षण माना है । आचार्य भामह के अनुसार शब्द और अर्थ का सहित भाव काव्य है 'सहित' का मतलब मिलन से है । शब्द और अर्थ का साथ होना या शब्द और अर्थ की सहगामिता ही काव्य का लक्षण है - ''शब्दार्थो साहितौ काव्यम्'' । शब्द और अर्थ अर्थात् वाक् और अर्थ की सहगामिता ऐसी हो जैसे शिव और शक्ति । यही बात महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भवम्' के प्रारंभ में कहा है -

''वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

आचार्य आनन्द-वर्धन ने भी 'ध्वन्यालोक' में भामह के मत को ही दुहराया है - ''शब्दार्थयो: साहित्येन काव्यत्व ।'' काव्य का लक्षण बताने में राजशेखर भी भामह के ही अनुयायी रहे । उनके अनुसार शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव ही काव्य का लक्षण है ।

असल में बिना अर्थ के शब्द या बिना शब्द के अथ हो ही नहीं सकता । शब्द और अर्थ निरंतर साथ ही रहते हैं । इसलिए रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में भामह के द्वारा प्रदत्त लक्षण को संक्षिप्त करके 'तनु शबद्ार्थौ काव्यम्' कहा है - अर्थात् शब्द और अर्थ ही काव्य है ।

१.४.२ विशेष लक्षण

कोरे शब्द और अर्थ काव्य के लक्षण हो नहीं सकते । इसलिए आचार्यवामन ने रुद्रट के द्वारा प्रदत्त लक्षण में विशेषताएँ जोड़कर 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' मे शब्दार्थ के साथ गुण और अलंकार के युक्त हाने को काव्य का लक्षण माना है ।

आचार्य कुन्तक ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए 'वक्रोक्ति जीवितम्' में काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लाद देनेवाली सुन्दर कवि-व्यापार से समन्वित रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ के संयोजन को काव्यका लक्षण माना है । कवि-मर्मज्ञ वह है, जिसमें काव्य को आस्वादन करने की

शक्ति है । आजकल के लोग शास्त्रीय संगीत से घबराते हैं, क्योंकि उसका आस्वादन करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है ।

आह्लाद देने की शक्ति केवल रस में है - चाहे वह श्रृंगारा रस हो या भयानक, रौद्र हो या हास्य । इसलिए आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में रस को ही काव्य का लक्षण माना है - 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' । उन्होंने शब्दार्थ के बदले वाक्य शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि वाक्य ही सार्थक शब्दों का समूह है, जो वक्ता के अभिप्राय को श्रोता तक सफलता पूर्वक सम्प्रेषित करता है ।

काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण विशेष प्रसिद्ध है । उनके अनुसार दोषरहित, गुणसहित और अलंकार युक्त अथवा कहीं-कहीं अलंकार के बिना, शब्द और अर्थ का संयोजन ही काव्य का लक्षण है - 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती: पुनः क्वापि ।'

भोज ने भी मम्मट के काव्य-लक्षण को अत्यन्त समुचित माना है ।

जयदेव ने अपने काव्य-लक्षण में काव्य के सभी तत्वों का समावेश कर दिया है । उनके अनुसार काव्य उस वाणी का नाम है जो दोषरहित, असरसंहति शोभादि लक्षणों से युक्त, रीति और गुण से विभूषित तथा अलंकार, रस, वृत्तियों से समन्वित हो -

''निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषिता ।

सालंकार-रसानेक वृत्ति वाक्काव्य नाम भाक् ।'' (चन्द्रालोक)

१.४.३ हिन्दी आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य लक्षण

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः मम्मट के काव्य-लक्षण का अनुसरण करते हुए दोषरहित तथा गुणसहित अलंकारयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहा है ।

देवकृत काव्य-लक्षण में किसी सुबुद्धि सहृदय के मुख से निकले हुए ऐसे सार्थक शब्द को काव्य कहा गया है जिसमें छन्द, भाव, अलंकार एवं रस का भी समावेश हो -

''शब्द सुमति सुख तै कढै, पद - वचननि को अर्थ ।

छंदभाव भूषन सरस, सो कहि काव्य समर्थ ॥'' (शब्द रसायन)

कुलपति मिश्र ने शब्दार्थमय छंद - रचना को जगत् में उद्भुत काव्य कहा है ।

कवि ठाकुर ने अपने काव्य-लक्षण में तुक और रसात्मकता पर बल दिया है ।

आधुनिक काल के हिन्दी विद्वानों में रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को रसात्मक रचना माना है ।

पंडित रामदहिन मिश्र ने 'काव्य विमर्श' में 'सहृदय हृदयानन्द कर वाक्य कहाने काव्य' कहकर सहृदयों के हृदय को आनन्द प्रदान करनेवाले वाक्य को काव्य का लक्षण बताया है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त काव्य-लक्षणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्य वह रचना है जिसमें हमारा हृदय अनयास ही खो जाय, मुग्ध एवं तन्मय हो जाय । अत: शब्दार्थमयी आनन्दप्रद रचना ही काव्य है ।

१.५ काव्य-हेतु

हेतु का साधारण अर्थ है कारण । किन्तु कारण में दो बातें रहती हैं - लक्ष्य और साधन । जिन उद्देश्यों को दृष्टि मे रखकर कार्य किया जाता है वह है लक्ष्य और जिन उपायों से कार्य किया जाता है वह है साधन । साधन ही हेतु है ।

यहाँ काव्य के हेतु अथवा प्रमुख साधनोंकी चर्चा भारतीय आचार्यों के मतों का विश्लेषण करते हुए की जाएगी ।

१.५.१ परिभाषा

हेतु का अभिप्राय उन साधनों से है जो कवि की काव्य-रचना में सहायक होते हैं ।

कवि में काव्य-निर्माण के सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाले साधनों का नाम काव्य-हेतु है ।

काव्य-हेतु का अर्थ ऐसे साधनों एवं तत्वों से है, जिनके कारण काव्य-सृजन संभव होता है ।

१.५.२ स्वरूप

कवि-कर्म काव्य कहलाता है । काव्य वह रचना है जो सर्वथा कारण-सापेक्ष होती है । कारण को ही हेतु कहा जाता है । काव्य-हेतु ही कवि में काव्य-प्रणयन के सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधन हैं ।

काव्य-हेतु कवि की अंतश्चेतना को उत्प्रेरित करके उसे काव्य रचना करने को विवश करदेने वाले तत्व हैं । अर्थात् काव्य - हेतु का सम्बन्ध उन कारणों अथवा स्थितियों से है जिनसे प्रेरित होकर कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है ।

१.५.३ भारतीय आचार्यों के मत

भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने काव्य-हेतु की चर्चा की है और मुख्यत: उन्होने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही काव्य- हेतु के रुप में परिगणित किया है । बिभिन्न आचार्यों की मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं ।

भामह

सबसे प्राचीन आचार्य भामह ने 'प्रतिभा' को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है । उन्होंने 'काव्यालंकार' में कहा है कि गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्र का अध्ययन कर सकता है, किन्तु काव्य का कर्त्रा कोई प्रतिभावान् व्यक्ति ही हो सकता है -

'गुरूपदोशादध्येतु शास्त्रं जडाधियोदप्यलम् ।

काव्य तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥'' (काव्यालंकार १:५)

भामह का कहना है कि कवि को शब्द-शास्त्र इत्यादि के जाननेवालों की सेवा और उपासना करके, अर्थात् उनके निकट रहकर, शब्द तथा शब्दार्थ का ज्ञान करके, साथ ही अन्य कवियों के निबंधों का अध्ययन कर काव्य रचना में उत्साह दिखलाना चाहिए । भामह ने काव्य के तीन हेतु माने हैं - प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास । इनमें से उन्होंने प्रतिभा को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए काव्य-रचना के लिए उसे परम आवश्यक माना है ।

दण्डी

आचार्य दण्डी ने प्रतिभा के अतिरिक्त शास्त्रज्ञान और अभ्यास को भी काव्य हेतु माना है । उन्होंने केवल शब्द-भेद से भामह के काव्य-हेतुओं को स्वीकारा है ।

दण्डी के अनुसार नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान और अमंद अभियोग अर्थात् सतत अभ्यास ही काव्य संपद के हेतु हैं -

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।

अमन्दाश्चाभियोगोदस्य कारणं काव्यसंपदः ॥''(काव्यादर्श १:१०३)

अर्थात् जन्मजात प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल शास्त्र और बार-बार अभ्यास काव्य-संपत्ति के कारण हैं ।

दण्डी ते इन तीन तत्वों के सम्मिश्रण को कावय-हेतु माना है । उनके अनुसार प्रतिभा मनुष्य के प्रयत्न से संपादित नहीं की जा सकती, वह तो जन्मान्तर के संस्कारों के बल पर स्वयं ही आविर्भूत होती है । परन्तु जिनमें यह प्रतिभा जन्मजात नहीं है वे प्रयत्न द्वरा उसे कुछ सीमा तक प्राप्त कर सकते हैं ।

इस प्रकार दण्डी ने दो विरोधी तत्त्वों को स्वीकार किया है । एक ओर उन्होंने प्रतिभा, शास्त्र और अभ्यास, तीनों को मिलकार काव्य हेतु का प्रतिपादन किया है तो दूसरी ओर प्रतिभा के अभाव में भी कवित्व की संभावना को स्वीकारा है ।

रुद्रट

आचार्य रुद्रट ने इन काव्य - हेतुओं को भिन्न नाम से प्रस्तुत किया है - शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास । उन्होंने भामह की 'प्रतिभा' के स्थान पर 'शक्ति' को रखा है । उन्होंने कवि की नैसर्गिकी प्रतिभा को शक्ति और विविध शास्त्रज्ञान को व्युत्पत्ति कहा है ।

रुद्रट के अनुसार 'शक्ति' के बल पर कवि शब्दों और अर्थों के अवलोकन की क्षमता प्राप्त करता है, 'व्युत्पत्ति' से इसे दोषों के निराकरण और अलंकारादि काव्य तत्वों के उत्पादन की शक्ति प्राप्त हो जाती है और अभ्यास से काव्य में निखरता आ जाती है ।

वामन

आचार्य वामन ने काव्य - हेतु को काव्यांग की संज्ञा देते हुए काव्यांग की संख्या तीन ही स्वीकार किया है । ये तीन हैं - लोक, विद्या और प्रकीर्ण-'लोकोविद्या प्रकीर्ण च काव्यांगानि ।'

लोक से वामन का अभिप्राय लोक - व्यवहार से है, जो सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों पर निर्भर है ।

विद्या से वामन का अभिप्राय शास्त्रज्ञान से है, शब्दशास्त्र, स्मृतिर्ग्रंथ, कोषग्रंथ, कला, कामशास्त्र इत्यादि इसके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं । इन सबका ज्ञान कवि के लिए सहायक सिद्ध हो सकता है ।

वामन ने प्रकीर्ण के अन्तर्गत छः काव्य-हेतुओं को सम्मिलित किया है -

(क) लक्ष्यज्ञत्व या लक्ष्यतत्व, अर्थात् अन्य कवियों के काव्य का अध्ययन करना जिससे अपने लक्ष्य का ज्ञान हो सके ।

(ख) अभियोग या अभ्यास

(ग) बृहत्सेवा या वृद्धसेवा, अर्थात् गुरु, काव्य-मर्मज्ञों के निकट जाना, उनकी सेवा सुश्रुषा करना ।

(घ) अवेक्षण, अर्थात् उपयुक्त शब्दों का न्यास और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण अथवा लोक रीति - नीतियों को सम्यक् प्रकार से देखना । अपनी रचना की स्वयं अलोचना करना, स्वयं समीक्षा करना तथा सदोष पदों को हटाकर निर्दोष पदों को रखना भी अवेक्षण का तात्पर्य है ।

(ङ) प्रतिज्ञान या प्रतिभा जो जन्मान्तर के संस्कार से शक्ति रूप में कवि में स्वतः विद्यमान रहती है ।

(च) अवधान या चित्र की एकाग्रता, अर्थात् जब कवि वाह्य तत्वों से अपना चित्त हटाकर एकतान हो जाता है तभी काव्य-रचना सफल सिद्ध होती है ।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने शास्त्रज्ञान अथवा व्युत्पत्ति को निपुणता की संज्ञा देते हुए शक्ति,निपुणता और अभ्यास को काव्य-हेतु माना है । उनके लिए शक्ति का अभिप्राय प्रतिभा से, निपुणता का अभिप्राय लोक काव्य, काव्य शास्त्र आदि के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान से एवं अभ्यास का अभिप्राय काव्य-मर्मज्ञों से प्राप्त शिक्षा के अभ्यास से है उन्होंने इन तीनों को समन्वित कर उन्हें काव्य-हेतु बताया है -

शक्तिनिपुणता लोककाव्यशास्त्रादिवेक्षणात् ।

काव्यज्ञशिक्षणाभ्यास इति हेतुस्तद्रदभवे ॥

अर्थात् शक्ति, लोक, काव्य, शास्त्र आदि अवेक्षण जनित निपुणता एवं काव्य मर्मज्ञों से प्राप्त शिक्षा के अभ्यास समन्वय ही काव्य-हेतु है ।

वाग्भट

वाग्भट के अनुसार प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति विभूषण है और अभ्यास उसके सृजन का अभिवर्धक है । इस प्रकार उन्होंने वामन द्वारा उल्लिखित काव्य-हेतु के तीन अंगों के पारस्परिक संबंध और महत्व का स्पष्टीकरण किया है ।

राजशेखर

राजशेखर ने काव्य-हेतु पर सर्वाधिक विस्तृत विवेचन किया है । उन्होंने समाधि और अभ्यास से उत्पन्न 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु माना है । यहाँ समाधि का मतलब बुद्धि की एकाग्रता से है। बुद्धि तीन प्रकार की होती है - स्मृति, मति और प्रज्ञा । स्मृति अतीत वस्तु का स्मरण कराती है, मति वर्तमान वस्तु की मंत्रणा कराती है एवं प्रज्ञा भविष्य अर्थ को प्रकृष्ट रूप में ज्ञान कराती है । और इन तीनों की एकाग्रता ही समाधि है ।

समाधि और अभ्यास से उत्पन्न शक्ति ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति को जन्म देती है ।

राजशेखर के अनुसार प्रतिभा का आशय है अर्थ का प्रतिभान या प्रतिभासित होना । जिनमें प्रतिभा होती है वे अप्रत्यक्ष वस्तु (अर्थ) को भी प्रत्यक्ष जैसा ही देख लेते हैं ।

व्युत्पति का मतलब विद्वत्ता या निपुणता से है ।

राजशेखर के अनुसार काव्य में केवल शक्ति ही हेतु है जो प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न होते हुए भी उन्हीं के द्वारा वृद्धि पाती है ।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र के अनुसार प्रतिभा काव्य का हेतु है एवं व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का संस्कार करनेवाले हैं ।

जगन्नाथ

पंडितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को काव्य का कारण एवं व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का कारण माना है ।

निष्कर्ष

निष्कर्षत: प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य-हेतु के रूप में अत्यधिक महत्ता प्रदान की है । इसके साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी अधिकांश आचार्यों ने काव्य-हेतु के रूप में स्वीकृति दी है ।

अत: विभिन्न आचार्यों के मतों के आधार पर प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही काव्य-हेतु माना जा सकता है ।

इन तीनों का विश्लेषण करना आवश्यक है ।

१.५.४ प्रतिभा

प्रतिभा वह सारस्वत तत्व है जिसका अधिकारी सत्काव्य की सृष्टि में समर्थ होता है और कवि कहलाने की अर्हता प्राप्त करता है ।

भामह के मत से यह बात ध्वनित होती है कि प्रतिभा विधि का वरदान है जो विरले लोगों को ही प्राप्त होता है । इसलिए अंगेजी में कहा जाता है - कवि जन्महोते हैं, बनते नही (Poets are born, not made).

वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज कहा है, जो जन्मान्तर से प्राप्त कोई संस्कार है जिसके बिना काव्य - सृजन संभव नहीं है ।

भट्टतौत के अनुसार प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जो नित्य-नूतन रसानुकूल भाव-विचार उत्पन्न करती है ।

रुद्रट ने प्रतिभा को शक्ति-विशेष कहा है जो मन की एकाग्रावस्था में अभिधेय को अनेक रूपों में विस्फुरित करता है ।

कुंतक के अनुसार प्रतिभा किसी किसी को उपलब्ध वह कवि -शक्ति है जो पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार से परिपक्व एक अद्वितीय दिव्य शक्ति है ।

मम्मट ने प्रतिभा के लिए 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है, जो कवित्व का बीज - रूप संस्कार विशेष है, जिसके बिना काव्य-सृजन संभव नहीं है, और यदि होता भी है तो वह उपहासास्पद होता है ।

वाग्भट.के अनुसार प्रसन्न पदावली, नित्य-नूतन अर्थों तथा उक्तियों का उदबोधन करनेवाली कवि की स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं ।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने शक्ति और प्रतिभा की एकरूपता स्वीकार की है ।

भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभा एक ऐसा शाश्वत तत्व है जिसके बिना काव्य-सृजन संभव नहीं है ।

केवल दण्डी ही ऐसे एक आचार्य हैं जिन्होंने प्रतिभा के अभाव में भी काव्य-सृजन की संभावना स्वीकार की है । उनके अनुसार अभ्यास के द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रतिभा के भेद

सभी कवियों की प्रतिभा एक जैसी नहीं होती । इसीलिए आचार्यों ने प्रतिभा के एकाधिक भेद स्वीकार किये हैं ।

अभिनव गुप्त के अनुसार प्रतिभा द्विविध है -

(१) आख्या और

(२) उपाख्या

आख्या कवि की प्रतिभा है और उपाख्या सहृदय या समालोचक की प्रतिभा है ।

रुद्रट ने भी प्रतिभा को द्विविध माना है -

(१) सहजा और

(२) उत्पाद्या

सहजा सभाविक या जन्मजात प्रतिभा है एवं उत्पाद्या शास्त्राध्ययन आदि द्वारा उत्पन्न होती है ।

राजशेखर ने कवि और सहृदय के आधार पर प्रतिभा के दो भेद किये हैं -

(१) कारयित्री और

(२) भावयित्री

कारयित्री प्रतिभा कवि कर्म की सहयोगिनी है । यह वह शक्ति है जिसके बल पर कवि काव्य-सृजन करता है । यह प्रतिभा कवि के हृदय में नूतन शब्दार्थ समूह, मनोहर कल्पना, उक्ति-वैचित्र्य आदि को प्रतिभासित करती है ।

भावयित्री प्रतिभा भावक या समालोचक की सहयोगिनी है । यह वह शक्ति है जिसके माध्यम से समालोचक कवि के श्रम और अभिप्राय का भावन करता है । यह प्रतिभा कवि के श्रम तथा अभिप्राय स्पष्ट करती है तथा उसकी उपादेयता सिद्ध करती है ।

कारयित्री प्रतिभा का वास्तविक मूल्यांकन भावयित्री प्रतिभा द्वारा ही हो पाता है ।

राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा के भी तीन भेद किये है -

(१) सहजा

(२) आहार्या और

(३) औपदेशिकी

सहजा पूर्वजन्म के संस्कारों की अपेक्षा रखती है । इसलिए यह अल्प संस्कार से ही उद्‌बुद्ध हो जाती है ।

आहार्या वर्तमान जन्म के संस्कारों से उत्पन्न होने वाली प्रतिभा है । इसके स्फुरण के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है ।

औपदेशिकी प्रतिभा मन्त्रतन्त्रादि साधनों द्वारा उत्पन्न होती है । इसके लिए परिश्रम की आवश्यकता होती है ।

१.५.५ व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति का शाब्दिक अर्थ है पांडित्य या विद्वत्ता । अत: इसका संबंध ज्ञान से है ।

रुद्रट के अनुसार छंद, व्याकरण, कला, लोकस्थिति एवं पदार्थज्ञान से उत्पन्न उचितानुचित विवेक का नाम व्युत्पत्ति है -

'छन्दोव्याकरण कलालोकस्थिति पदपदार्थविज्ञानात् ।

युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।'

मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है जो चराचर जगत के निरीक्षण और काव्यादि के अध्ययन से प्राप्त होती है । यह लोक, शास्त्र और काव्य की प्रेरणा तथा पठन-श्रवण से उत्पन्न नैपूण्य है ।

राजशेखर ने व्युत्पत्ति को बहुज्ञता कहा है । यह उचितानुचित विवेक है ।

व्युत्पत्ति के अन्तर्गत सभी प्रकार का ज्ञान - शास्त्रीय ज्ञान और लौकिक ज्ञान तथा लक्षण ग्रंथों का ज्ञान - आ जाता है । इस प्रकार व्युत्पत्ति ज्ञान का पर्याय मानी गयी है, जो मुख्यत: दो प्रकार का है - शास्त्रीय ज्ञान और लौकिक ज्ञान ।

शास्त्रीय ज्ञान अध्ययनजन्य है, जिसके लिए भारतीय आचार्यों ने काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शब्दकोश आदि का अध्ययन आवश्यक माना है, जिससे कवि अनेक दोषों से बच जाता है ।

लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत लोक-व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण आता है । कवि का शास्त्रीय ज्ञान तभी सफल हो सकता है जब उसे लोक-व्यवहार का अच्छा ज्ञान हो । इसके साथ ही विभिन्न काव्य - परंपराओं का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है, जिससे वह विभिन्न काव्य-कृतियों के जीवन्त तत्वों का सम्यक् अध्ययन कर अपनी रचनाओं में उनका समावेश कर सकता है ।

भारतीय काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा का ही संस्कारक माना है, जिसके अभाव में कोई भी काव्यकृति महान नहीं हो सकती । अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों को रमणीय तथा हृदयस्पर्शी बनाने के लिए व्युत्पत्ति आवश्यक है ।

१.५.६ अभ्यास

अभ्यास का अर्थ है बारबार प्रयोग अथवा निरंतर प्रयोग करते रहना ।

अभ्यास काव्य-सृजन में कुशलता प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है । निरंतर अभ्यास से कवि की अभिव्यंजना में, भावाभिव्यक्ति में और अधिक प्रांजलता, माधुर्य और प्रभावशालिता का उदय होता है ।

संक्षेप में कहें तो काव्य में सौष्ठव लाने के लिए अभ्यास अत्यावश्यक है । इसके अभाव में अनेक प्रतिभाएँ कुंठित होकर नष्ट हो जाती हैं । अभ्यास से कविता मंज जाती है और उसनें नवीन चमक-दमक तथा नवीन शक्ति संचारित होती है । इससे काव्य सें निखार आ जाता है और काव्य सुव्यवस्थित धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है । अत: काव्यसृजन के लिए अभ्यास आवश्यक है ।

निष्कर्ष

काव्य-हेतु संबंधी उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रतिभा काव्य का मूल कारण है । यह पूर्वजन्मों में संचित संस्कारों का ही सुपरिणाम है । इसके अभाव में कवि काव्य-सृजन करने में सशक्त नही हो सकता । व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा में अभिवृद्धि करते हैं ।

१.६ काव्य-प्रयोजन

प्रयोजन का मतलब है आवश्यकता या उद्देश्य । संसार की प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है । काव्य-रचना भी सोद्देश्य ही होता है, जिसकी आवश्यकता 'हितोपदेश' में बतायी गई है -

'काव्य-शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन तू मूर्खाणां निद्रया कलेहन वा ॥'

अर्थात् बुद्धिमानों का समय काव्यशास्त्र विनोद में व्यतीत होता है जबकि मूर्खों का समय व्यसन, निद्रा अथवा कलह में ही बीतता है । अत: काव्य का प्रयोजन बहुत अधिक है ।

काव्य-प्रयोजन का तात्पर्य काव्य-सर्जन के उद्देश्य से है । काव्य-रचना के पीछे कवि का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है । यही उद्देश्य काव्य का प्रयोजन कहलाता है, जिससे प्रेरित होकर कवि काव्य सर्जन करता है ।

१.६.१ विभिन्न आचार्यों द्वारा विवेचन

भारतीय आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विशद विवेचन किया है ।

भरत

सबसे पहले आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है, जो काव्य पर भी चरितार्थ होता है । उनके अनुसार नाट्य धर्म, यश और आयु का साधक, हित कारक, बुद्धिबर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है इसके अलावा दु:खी, श्रान्त, शोकग्रस्त लोगों को भी विश्राम देनेवाला होता है ।

भामह

भामह ने 'काव्यालंकार' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - चतुर्वर्गप्राप्ति, समस्त कलाओं में निपुणता, प्रीति तथा कीर्त्ति को उत्तम काव्य का प्रयोजन बतलाया है -

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिवन्धनम् ॥'

भामह की इस उक्ति में दो बातें स्पष्ट होती हैं - कीर्त्ति या यश और प्रीति या आनन्द । भामह ने ही पदलीबार आनन्दोपलब्धि को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया । कीर्त्ति के संबंध में उनका कहना है कि उन्नत काव्य की सृष्टि करनेवाले कवियों के दिवंगत होने परभी उनका काव्यरूपी शरीर शाश्वत बना रहता है ।

वामन

आचार्य वामन ने भी कीर्त्ति और प्रीति को काव्य के दो प्रयोजन माने हैं ।

वामन ने काव्य-प्रयोजन के दो भेद बताये हैं- दृष्ट, अर्थात् दिखाई देने वाला और अदृष्ट, अर्थात् न दिखाई देनेवाला । उन्होंने कीर्त्ति को दृष्ट प्रयोजन और प्रीति को अदृष्ट प्रयोजन कहा है ।

रुद्रट

रुद्रट ने यश, धन प्राप्ति, विपत्ति नाश, अलौकिक आनन्द, आप्त कामना, चतुर्बर्ग प्राप्ति आदि काव्य के अनेक प्रयोजन बताये हैं । इनमें से यश को उन्होंने विशेष महत्व दिया ।

राजशेखर

राजशेखर ने सहृदय की दृष्टि से आनन्द और कवि की दृष्टि से कीर्त्ति को काव्य का प्रयोजन माना है ।

कुन्तक

कुन्तक ने 'बक्रोक्ति जीवितम्' में काव्य प्रयोजन का निरूपण किया है । उन्होंने काव्य के तीन पक्ष बताये हैं -

(१) धर्मादि चतुर्वर्ग प्राप्ति की शिक्षा

(२) व्यवहार आदि सुन्दर रूप की प्राप्ति

(३) लोकोत्तरानन्द की उपलब्धि

उनके अनुसार काव्य पुरुषार्थ चतुष्टय का साधक, सहृदयों को आह्लाद देनेवाला, व्यवहार का साधन तथा अलौकिक आनन्द का जनक होता है ।

अन्य आचार्य

हेमचन्द ने आनन्द, यश और उपदेश को काव्य के तीन प्रयोजन माने हैं एवं इनमे से आनन्द को श्रेष्ट सिद्ध किया है । आचार्य विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग प्राति को काव्य का प्रयोजन माना है ।

पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार यशप्राप्ति, लोकोत्रर आनन्द, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता काव्य के प्रयोजन हैं ।

दण्डी ने काव्य-प्रयोजनों का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए वाणी को ज्ञान और यश देनेवाला बताया है।

आनन्दवर्धन ने भी काव्य-प्रयोजन पर पृथक रूप से चर्चा न करते हुए भी सहृदयजनों के मनोरंजन को काव्य का उद्धेश्य माना है ।

अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए प्रीति को हो काव्य का प्रयोजन माना है।

१.६.२ मम्मट का मत

काव्य प्रयोजन के विषय में सर्वाधिक चर्चित और ग्राह्य मत आचार्य मम्मट का है । उन्होंने 'काव्य प्रकाश' में काव्य-प्रयोजनों पर विशद विवेचन किया है । उनके अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं -

(१) यशप्राप्ति

(२) अर्थप्राप्ति

(३) व्यवहारज्ञान

(४) शिवेतरक्षति

(५) सद्य: परिनिवृत्ति

(६) कान्तासम्मित उपदेश

''काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्य: परिनिवृत्रये कान्तासम्मितयो पदेशयुजे ॥''

इनमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ, अर्थात् यशप्राप्ति, अर्थ-प्राप्ति और शिवेतरक्षति का सम्बंध कवि से है ।

तृतीय और षष्ठ, यानी व्यवहारज्ञान और कान्तासम्मित उपदेश का सम्बंध पाठक से है ।

पंचम प्रयोजन अर्थात्, सद्यः परिनिवृत्ति का सम्बंध कवि और पाठक दोनों से है ।

परवर्त्ती सभी आचार्यों ने मम्मट के मत को स्वीकारते हुए काव्य के छः प्रयोजनों को मान्यता दी है । इन पर सामान्य दृष्टिपात करना आवश्यक है ।

१. यशप्राप्ति

यश की कामना प्रत्येक व्यक्ति को होती है । इसलिए काव्य-प्रयोजन में इसे प्रथम स्थान दिया गया है । सहृदय पाठक के लिए यदि काव्य अलौकिक आनन्द का प्रदाता है तो कवि के लिए अक्षय यश प्रदान करनेवाला भी है ।

काव्य - रचना के द्वारा कवि अपार कीर्त्ति प्राप्त करता है । कवि अपनी मृत्यु के बाद भी अपनी रचनाओं में जीवित रहता है । उसका काव्य कभी नहीं मरता । वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, जयशंकर प्रसाद जैसे कवि अपनी रचनाओं में ही जीवित रहे हैं । भर्तृहरि ने उन रससिद्ध कवियों की जय जयकार की है जिनके यशः शरीर को न बुढ़ापे का डर है, न मृत्यु का भय -

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जशसरणजं भयम् ॥'

महाकवि कालिदास ने 'मन्दः कवि यशः प्रार्थी' कहकर कवि में यशोलिप्सा की भावना प्रतिपादित की है । 'स्वान्तः सुखाय' रघुनाथ गाथा लिखनेवाले तुलसी दास की निम्नलिखित पंक्तियों में कवि के अन्तर्मन में विद्वानों द्वारा प्रशंसित होने की भावना दिखाई पड़ती है -

'जो कबित्त बुध नहीं आदरहीं,
सो सुभ बादि बाल कवि करही ।'

'पद्मावत' के अन्त में मलिक मुहम्मद जायसी ने भी पाठकों द्वारा स्मरण किये जाने की कामना व्यक्त की है -

'काहु न जगत जस बेचा, काहु न लीह्ना मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी हमें सुमिरे दो बेल ॥'

अतः यशप्राप्ति को काव्य-प्रयोजन में प्रथम स्थान् दिया जाना समुचित ही है । भामह, वामन, रुद्रट, राजशेखर, पंडितराज जगन्नाथ जैसे आचार्यों ने भी यशप्राप्ति या कीर्ति को काव्य-प्रयोजन के अंतर्गत रखा है ।

२. अर्थप्राप्ति

काव्य के भौतिक प्रयोजनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अर्थ है। इसलिए मम्मट ने काव्य-प्रयोजन में इसे द्वितीय स्थान दिया है ।

काव्य-रचना द्वरा अर्थ प्राप्ति के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं । प्राचीन काल में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्हें अपने जीवनकाल में काव्य-सृजन से यश: ही नहीं, धन की प्रप्ति हुई थी । रीतिकाल में प्राय: सभी कवियों का धन ही प्रेयाजन रहा है ।

कितने ही कवियों ने राजाश्रय में रह कर अपने आश्रदाताओं की प्रशंसा करते हुए उनसे आजीविका प्राप्त करने का प्रयास भी किया है।

३. व्यवहार-ज्ञान

व्यवहार- ज्ञान का अभिप्राय सामाजिक शिष्टाचार और लोकनीति से है । देश, काल और वातावरण के अनुकूल आचरण की प्रेरणा देने में काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है ।

काव्य के अध्ययन से लोक, व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है । पाठक को देश-विदेश, अतीत-वर्तमान के रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है । जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की शक्ति उसमें आती है । इसके अतिरिक्त किसी युग की रीति-नीति की जानकारी एवं जीवन-मूल्यों का परिचय काव्य के द्वारा ही प्राप्त होता है । विष्णु शर्मा ने राजा के निर्बोध पुत्रों को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही 'हितोपदेश' की रचना की थी ।

अत: व्यवहारज्ञान की शिक्षा को अन्यतम काव्य-प्रयोजन की मान्यता देना अत्यन्त समुचित है । कुन्तक ने भी अपने काव्य-प्रयोजन संबंधी विवेचन में व्यवहार साधन को स्वीकृति दी है ।

४. शिवेतरक्षति

शिवेतर अर्थात् अशिव, अशुभ, अमंगल की क्षति, अर्थात् हार करना भी काव्य का प्रयोजन है। अन्य शब्दों में कहें तो अमंगलनाश एक काव्य-प्रयोजन है, रुद्रट ने भी विपत्तिनाश को काव्य का अन्यतम प्रयोजन कहा है ।

काव्य अनिष्ट निवारण का मुख्य साधन है । काव्य स्तुतियों द्वारा अनेक कवियों ने अपने कष्टों का निवारण किया है । संस्कृत कवि मयूर ने कुष्ठरोग से ग्रस्त होने पर सूर्यशतक की रचना कर रोग से मुक्ति पायी थी । गोस्वामी तुलसीदास ने बाहुशूल निवारणार्थ 'हनुमान बाहुक' की रचना की थी ।

इस प्रकार के अनिष्टनिवारण में केवल अपना नहीं अपितु संपूर्ण देश और संपूर्ण मानव जाति का हित चिन्तन किया जाता है । 'कुरुक्षेत्र' जैसे आधुनिक काव्य में रामधारी सिंह 'दिनकर' ने मनुष्य को युद्ध की विभीषिका से बचकर शांति के मार्ग पर चलने का संदेश दिया है । इस प्रकार काव्यों में मनुष्य का मंगल चिन्तन करना एक प्रयोजन ही है ।

५. सद्यः परिनिवृत्ति

सद्यःपरिनिवृत्ति का तात्पर्य है तत्काल आनन्द प्राप्ति अथवा सद्यः मुक्तावस्था ।

आचार्यों ने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर की संज्ञा देते हुए इसे काव्य का सर्वप्रधान प्रयोजन माना है ।

उपर्युक्त चार प्रयोजन काव्य के गौण प्रयोजन हैं । काव्य का परमलक्ष्य लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति है । आचार्य मम्मट ने इसे संपूर्ण प्रयोजनों में प्रमुख माना है । अन्य आचार्यों में रुद्रट ने अलौकिक आनन्द को काव्य का अन्यतम प्रयोजन माना है । कुन्तक ने तो लोकेत्तर आनन्द को पुरुषार्थ चतुष्टय से भी बढ़कर महत्व दिया है । पंडितराज जगन्नाथ ने भी लोकोत्तर आनन्द को काव्य-प्रयोजनों के अन्तर्गत रखा है ।

यह आनन्द कवि और पाठक को समान रूप से प्राप्त होता है, क्योंकि काव्य-सृजन के उपरान्त कवि भी सहृदय की श्रेणी में आ जाता है । अर्थात् कवि भी अपनी रचना का आस्वादन करता है ।

६. कान्तासम्मित उपदेश

कान्तासम्मित उपदेश का मतलब है पत्नी के समान मधुर उपदेश देना ।

शास्त्रों में तीन प्रकार के वचनों का निर्देश है - प्रभु सम्मित, सुहृद्सम्मित और कान्ता सम्मित ।

प्रभुसम्मित यानी प्रभु के समान वचन में आज्ञा रहती है और अच्छी - बुरी बातों का निर्देश होता है ।

सुहृदसम्मित यानी मित्र के समान वचन सें सद्भावना रहती है ।

किन्तु कान्तासम्मित वचन सें प्रेमोपदेश होता है, जो अधिक ग्राह्य होता है । इसलिए पत्नी के समान मधुर उपदेश देना ही काव्य का अन्यतम प्रयोजन माना गया है । वस्तुतः काव्य का यह प्रयोजन ही उसे जीवनोपयोगी रूप प्रदान करता है ।

काव्य द्वारा उपदेश की प्राप्ति होती है । परन्तु यह उपदेश नीरस नहीं होता । काव्य का उपदेश मधुर होता है । जिस प्रकार कान्ता या प्रिया अपनी मधुर वाणी से प्रियतम के हृदय में सरसता का संचार करती है उसी प्रकार काव्य के द्वारा मधुर उपदेश प्राप्त होता है । पाठक के हृदय पर इसका अमिट प्रभाव

पड़ता है । काव्य में प्रेयसी की तरह आकर्षित करने की शक्ति रहती है । यह भाव-प्रधान शैली होती है, जिसमें शब्द और अर्थ-गौण रह जाते हैं और रस तत्व की प्रधानता रहती है । इसलिए इसे काव्य का प्रयोजन माना गया है ।

हिन्दी के आचार्य

गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य-प्रयोजन स्वान्तः सुखाय ही माना है । किन्तु अन्य कवियों के लिए उन्होंने कीर्ति और मंगल प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन कहा है -

'कीरति भपिति भूरी भली सोई ।
सुरसरी सम सब कहै हित होई ।।'

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों पर मम्मट का प्रभाव सुस्पष्ट है । इनमें से कुलपति मिश्र ने यशप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, आनन्द और व्यवहार ज्ञान को काव्य-प्रयोजन बताया है ।

देव ने यश और आनन्द को काव्य-प्रयोजन माना है ।

आचार्य सोमनाथ के अनुसार कीर्त्ति, धन, मनोरंजन, अनिष्टनाश और उपदेश ही काव्य के प्रयोजन हैं ।

आधुनिक आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षोंका प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है । अर्थात् कवि-कर्म का लक्ष्य पाठक के हृदय का विस्तार करना है ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन माना है ।

डॉ. नगेद्र ने भी आत्माभिव्यक्ति की भावना को साहित्य का प्रयोजन बताया है ।

गुलबराय के अनुसार यश, अर्थ, काम, लोकहित सभी आत्महित के उच्च और संकुचित रूप ही हैं । इन सभी प्रयोजनों में वही उत्तम है जो आत्मा को अधिक से अधिक समृद्ध करे । इसीसे साहित्य द्वारा लोकहित की संभावना बनी रहती है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त आलोचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य को सोद्देश्य माना है । संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों के आरंभ में ही काव्य-प्रयोजन की ओर संकेत मिलता है । काव्य को मात्र उपदेश का वाहक न मानकर मोक्ष का साधन तक माना गया है । विभिन्न आचार्यों में से सम्मट द्वारा बताये गये छः प्रयोजन ही सर्वाधिक मान्यताप्राप्त हुए - यशप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतरक्षति, सद्यः परिनिवृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश । हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों पर

इनका प्रभूत प्रभाव पड़ा । किन्तु भक्त कवियों ने स्वांत:सुख को काव्य का प्रयोजन माना, जिसे आधुनिक काल में आत्माभिव्यक्ति कही गई । वस्तुत: कवि के मन में सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि होने के कारण अनेक भावन्तरण उठा करती हैं और उन्हीं से प्रेरणा पाकर, उन भावों और अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की उसके मन में एक तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है, जो उसे काव्य-सर्जन के लिए प्रवृत्त करती है । उस समय कवि का अन्त:स्थल परिष्कृत और परम पुनीत होता है, और उसकी वाणी से नि:सृत शब्द सहृदयों में आनन्द की सृष्टि करते हैं । अत: काव्य का प्रयोजन अत्यन्त महान् होता है ।

१.७ उपसंहार

इस इकाई में मुख्यत: तीन बातों की चर्चा हुई - काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु और काव्य प्रयोजन ।

काव्य स्वरूप में काव्य के आभिधानिक और पारिभाषिक अर्थों की चर्चा करते हुए विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं की चर्चा की गई, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि रसयुक्त वाक्य ही काव्य है ।

उसके उपरान्त काव्य-लक्षण की चर्चा करते हुए काव्य के सामान्य लक्षण और विशेष लक्षणों पर प्रकाश डाला गया । विभिन्न आचार्यों द्वारा बताये गये काव्य-लक्षणों का विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकला कि काव्य वह रचना है जिसमें हमारा हृदय अनायास ही खो जाय, मुग्ध एवं तन्मय हो जाय । अत: शब्दार्थमयी आनन्दप्रद रचना होना ही काव्य का लक्षण है ।

काव्य - सृजन में सहायक साधनों की चर्चा 'काव्य-हेतु' के प्रसंग में दी गई है । विभिन्न आचार्यों के मतों का विश्लेषण करते हुए निर्ष्कषत: प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य-हेतु माना गया । इनमें से प्रत्येक की विस्तृत चर्चा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रतिभा ही काव्य का मूलकारण है एवं व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा में अभिवृद्धि करते हैं ।

इस ईकाई का अन्तिम विषय रहा काव्य-प्रयोजन, जिसका मतलब है काव्य-सृजन करने का उद्देश्य । विभिन्न भारतीय आचार्यों के मतों का विश्लेषण करते हुए आचार्य मम्मट का मत ही सर्वग्राह्य प्रतीत हुआ, जिसमे उन्होंने काव्य के छ: प्रयोजनों का उल्लेख किया है - यश:प्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतरक्षति, सद्य: परिनिवृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश । इनमें से सद्य: परिनिवृत्ति ही सर्वप्रधान है, जिसे अन्य आचार्यों ने आनन्द और आधुनिक आचार्य ने आत्माभिव्यक्ति की संज्ञा दी है ।

१.८ संभाव्य प्रश्न

१. काव्य क्या है ? विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं की चर्चा करते हुए बताइए ।

(काव्य का आभिधानिक अर्थ - विभिन्न आचार्यों यथा-भरत, अग्निपुराण, भागह, दण्डी, रुद्रट, वामन, कुन्तक, मम्मट, वाग्भट, जयदेव, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि द्वारा दी गई परिभाषाओं की

चर्चा करते हुए निष्कर्ष रूप में विश्वनाथ की परिभाषा को सर्वमान्य बताते हुए यह कहना कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है ।)

२. विभिन्न आचार्यों के मतों का विवेचन करते हुए काव्य-स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।

३. काव्य-लक्षण के बारे में बताये गये विभिन्न आचार्यों के मतों का विश्लेषण करते हुए काव्य के लिए एक उपयुक्त लक्षण निर्द्धारित कीजिए ।

४. काव्य-हेतु से आप क्या समझते हैं ? विभिन्न आचार्यों द्वारा इस सवंध में दिये गये मतों का विवेचन कीजिए ।

५. काव्य-हेतु के रूप सें प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का विश्लेषण कीजिए ।

६. काव्य-प्रयोजन का तात्पर्य समझाते हुए इसके सम्बन्ध सें विभिन्न आचार्यां के मतों पर प्रकाश डालिए ।

७. आचार्य मम्मट द्वारा बताये गये काव्य-प्रयोजनों की चर्चा कीजिए ।

लघूत्तरी प्रश्न

१. काव्य और कविता में क्या अन्तर परिलक्षित होता है ?

२. अग्निपुराण में काव्य-स्वरूप के सम्बंध मे क्या बताया गया है ?

३. आचार्य कुन्तक द्वरा बताये गये काव्य-लक्षण की चर्चा कीजिए ।

४. काव्य-हेतु के संबंध सें रुद्रट के मत का विश्लेषण कीजिए ।

५. कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

६. कारयित्री प्रतिभा के भेदों की चर्चा कीजिए ।

७. व्युत्पत्ति पर एक टिप्पणी लिखिए ।

८. भामह ने काव्य-प्रयोजन के संबंध में क्या कहा है ?

९. सद्यः परिनिवृत्ति का तात्पर्य समझाइए ।

१०. कान्तासम्मित उपदेश से आप क्या समझते हैं ?

अति लघूत्तरीप्रश्न

१. भारतीय काव्यशास्त्र में प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ क्या है ? (भरतमुनि का नाट्यशास्त्र)

२. किस पुराण में काव्य स्वरूप पर प्रकाश डालगया है ? (अग्नि पुराण)

३. काव्य के सम्बंध में भामह ने क्या परिभाषा दी है ? (शब्दार्थौं सहितौ काव्यम्)

४. 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' - यह परिभाषा किसने दी है ? (रुद्रट ने)

५. 'काव्यप्रकाश' किसकी रचना है ? (मम्मट की)

६. आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की क्या परिभाषा दी है ? (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)

७. किसने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है ? (पंडितराज जगन्नाथ ने)

८. 'वक्रोक्ति जीवितम्' के रचयिता कौन है ? (कुन्तक)

९. वामन ने कितने काव्यांगों की चर्चा की है ? (तीन)

१०. वाग्भट ने किसे काव्य का विभूषण कहा है ? (व्युत्पत्ति को)

११. अभिनव गुप्त द्वारा बताये गये प्रतिभा के दो भेद क्या-क्या हैं ? (आत्मा और उपाख्या)

१२. भामह द्वारा रचित काव्यशास्त्र का नाम क्या है ? (काव्यालंकार)

१३. मम्मट ने काव्य के कितने प्रयोजन बताये हैं ? (छः)

१४. शिवेतरक्षति का अर्थ क्या है ? (अमंगलनाश)

१५. काव्य-प्रयोजन के संबंध में किस आचार्य का मत सर्वाधिक मान्य रहा है ? (मम्मट का)

१.९ सन्दर्भ ग्रंथ

१. काव्यशास्त्र - डा. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

२. काव्यशास्त्र के विविध आयाम - डॉ. सुधांशु कुमार नायक, विद्यासागर, कटक

३. भारतीय काव्यशास्त्र - डॉ. रमानन्द शर्मा

४. काव्य सिद्धान्त - डॉ. ओम् प्रकाश शर्मा शास्त्री

* ईकाई - २ (काव्य सिद्धान्त)

इकाई की रूपरेखा

२.० अभिप्राय

२.१ प्रस्तावना

२.२ भारतीय काव्य सिद्धांत

२.३ रस सिद्धांत

- २.३.१ रस का स्वरूप
- २.३.२ रस की अवधारण
- २.३.३ रस के अंग
- २.३.४ रस निष्पत्ति
- २.३.५ साधारणीकरण

२.४ अलंकार सिद्धांत

- २.४.१ अलंकार की अवधारणा
- २.४.२ काव्य में अलंकारों का स्थान
- २.४.३ अलंकारों का वर्गीकरण

२.५ रीति सिद्धांत

- २.५.१ रीति की अवधारणा
- २.५.२ रीति का शास्त्रीय विवेचन
- २.५.३ रीति की विशेषताएँ
- २.५.४ रीति के भेद

२.६ वक्रोक्ति सिद्धांत

- २.६.१ वक्रोक्ति की अवधारणा
- २.६.२ वक्रोक्ति की विशेषताएँ
- २.६.३ वक्रोक्ति के भेद

२.७ संभाव्य प्रश्न

२.८ संदर्भ ग्रंथ सूची

२.० अभिप्राय

विद्यार्थियों को भारतीय काव्यसिद्धान्त से परिचित कराना इस इकाई का अभिप्राय है । भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में मुख्यत: छ: काव्यसिद्धान्तों की चर्चा पायी जाती है - रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य । इनमें से रस सिद्धान्त का विस्तृत ज्ञान एवं अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त का सामान्य ज्ञान इस इकाई में प्रदान किया जाएगा ।

इन चार सिद्धान्तों की चर्चा करने से पहले भारतीय काव्य-शास्त्र की सामान्य जानकारी से विद्यार्थी को परिचित होना चाहिए ।

२.१ प्रस्तावना

काव्य के अनुशीलन के लिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक माना गया है । राजशेखर का कहना है कि जैसे दीपक के प्रकाश के बिना पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान संभव नहीं है । उन्होंने ही चार वेद, छ: वेदांग, चार शास्त्र - इन चौदह विद्याओं के साथ काव्य विद्या को पन्द्रहवाँ स्थान दिया है और इसे चौदह विद्यायों का आधार माना है - 'पंचदशं काव्यविधा स्थानम् ।'

२.२ भारतीय काव्य सिद्धान्त

भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा बहुत प्राचीन है । इसकी सर्वप्रथम उपलब्ध रचना भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है, जो अपने मूल-रूप में पाँचवी-छठी शताब्दी का प्रतीत होता है । इसके छठे और सातवें अध्यायों में रस का सर्बप्रथम वर्णन मिलता है ।

पाँचवी-छठी शताब्दी के आचार्य भामह ने विधिवत् शास्त्र की रचना की । उनका 'काव्यालंकार' अलंकार सिद्धान्त का वर्णन करनेवाला ग्रंथ है ।

आठवी-नौवी शताब्दी के आचार्य वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को काव्य की आत्मा- 'रीतिरात्मा काव्यस्य' मानकर रीति-सिद्धान्त की स्थापना की ।

नौवीं शताब्दी के आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की ।

इसी शताब्दी के मध्यभाग के आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की ।

ग्यारहवी शताब्दी के आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्य को प्रधानता देते हुए औचित्य सिद्धान्त की स्थापना की ।

चौहहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में काव्य का सर्वांग विवेचन करते हुए रस को काव्य की आत्मा के गौरवान्वित पद पर प्रतिष्ठित किया - 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्'।

इस प्रकार काव्य के प्रमुख छः सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुए - रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य । इनमें से रस को विश्वनाथ ने काव-शास्त्र के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया । उनका 'साहित्यदर्पण' भारतीय काव्यशास्त्र के निर्विवाद ग्रंथ के रूप में सम्मानित है ।

२.३ रस सिद्धान्त

रससिद्धान्त का सामान्य अर्थ है रस संबंधी सिद्धान्त । यह सिद्धान्त रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का सिद्धान्त है ।

भारतीयकाव्यशास्त्र में रस

भारतीय काव्यशास्त्र में रस का महत्व सर्वाधिक है । इसे ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।

रस का सर्वप्रथम वर्णन लिखित रूप में भारतमुनि के नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें अध्यायों में मिलता है । इसमें भरत ने सदाशिव, ब्रह्मा, तण्डु, वासुकि, नारद, भरतबृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि आदि कई पूर्ववर्ती आचार्यों का भी उल्लेख किया है । राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को और केशवमिश्र ने शौद्धोदनि को रस का पुरस्कर्त्ता माना है । शारदातनय के अनुसार विष्णु के कहने पर नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने भरत को नाट्यवेद की शिक्षा दी थी ।

रसवादियों के अलावा अन्य आचार्यों ने भी रस को महत्व दिया है । भामह ने रस को अलंकार के अन्तर्गत रखा है और रस संबंधी तीन अलंकारों का वर्णन किया है । दण्डी ने रस से गुणों का संबंध स्वीकार करते हुए काव्य में रसभावनिरंतरता को आवश्यक माना है । वामन ने रस को गुणों की कांति कहा है । रूद्रट ने रस को नाटक तक सीमित रखने का विरोध किया है । रूद्रभट ने रस को नाट्येतर काव्य में भी स्वीकार कर लिया है । ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने रसध्वनि वाले काव्य को सर्बश्रेष्ठ घोषित किया है । राजशेखर ने काव्य पुरुषोत्पत्ति के प्रसंग में रस को काव्यात्मा के रूप में मान लिया है ।

वक्रोक्तिवाद के प्रतिपादक कुन्तक, ओचित्य सिद्धान्त के पुरस्कर्ता क्षेमेन्द्र, काव्यप्रकाशकार मम्मट, भावप्रकाशकार शारदातनय, हेमचन्द्र, शार्गदेव आदि ने भी रस का महत्व प्रतिपादित किया है ।

२.३.१ रस का स्वरूप

'रस' शब्द की व्युत्पत्ति 'रस्' धातु से ' अत्' प्रत्यय लगाकर होती है । 'रस्यते आस्वाद्यते इति रस:' - अर्थात् जो आस्वादित किया जाय वह रस है । अथवा 'रसते इति रस:' - अर्थात् जो बहता है वह रस है ।

इस प्रकार रस का अर्थ है आस्वाद् या द्रवत्व । आस्वाद एक प्रकार की अनुभूति है । जिस प्रकार भोजनीय पदार्थ से जीभ पर कोई प्रभाब पड़ता है या प्रतिक्रिया होती है उसी प्रकार काव्य से मन और हृदय पर एक प्रतिक्रिया होती है और कोई भाव उत्पन्न होता है । इसलिए काव्यशास्त्र में 'रस' का व्यावहारिक अर्थ है मन और हृदय में भाव उत्पन्न करना । अत: चित्र में उत्पन्न होनेवाली विशेष वृत्ति का नाम रस है ।

तैत्रिरीयोपनिषद् में रस को ब्रह्मानन्द का पर्याय माना गया है - 'रसो वै स: हयेवायं लब्ध्वाददनन्दी भवति ।' अर्थात् वह ईश्वरीय अनुभूति ही रस है, जिसे प्राप्त करके आत्मा आनन्दी हो जाती है ।

साहित्य के ग्रंथों में रस का प्रथम उल्लेख भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है । उन्होंने रस की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है, किन्तु रस निष्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग द्रसनिष्पति:' । अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से उद्‌बुद्ध होने वाले स्थायी भाव को रस कहते है ।

आचार्य धर्नजन ने 'दशरूपक' में रस का जो स्वरूप बताया है वह भी लगभग भरत के मत से मिलता है । उनका मत है -

''विभावैरनुभावैश्च सात्विकै-र्व्यभिचारिभि: ।
आनयमान: स्वाद्यत्व स्थायी भाग रस: स्मृत: ॥''

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वाद को प्राप्त हुआ स्थायी भाव रस कहलाता है ।

आचार्य मम्मट ने विभावादि द्वारा व्यंजित स्थायी भाव को रस मानते हुए कहा है - 'व्यक्तः सः तैर्विभावाद्यैः भावो रसः स्मृतः ।'

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस आस्वादन का विषय होकर भी आस्वाद से अभिन्न और आस्वाद रूप ही है । उन्होंने 'साहित्य दर्पण' में रस के स्वरूप के बारे में जो मत दिया है, वह सर्वाधिक समीचीन माना जाता है । उन्होंने कहा है -

'सत्वोद्रेकादखंड-स्वप्रकाशानन्द - चिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ॥
लोकोत्तर-चमत्कारप्राणः कैचित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिचत्वेनादयसास्वाद्यते यः ॥'

(साहित्य दर्पण ३/२-३)

अर्थात् सत्वोद्रेक से अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण और अपने आकार से अभिन्न रस आस्वादित होता है ।

इस परिभाषा के अनुसार रस (१) अखण्ड, (२) स्वप्रकाश, (३) आनन्दमय, (४) चिन्मय, (५) वेद्यान्तर स्पर्शशून्य, अर्थात् अन्य ज्ञान से रहित, (६) ब्रह्मास्वाद सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान (७) लोकोत्तर चमत्कार प्राण अर्थात् अलौकिक चमत्कार प्रदान करनेवाला एवं (८)स्वाकारात् अभिन्न अर्थात् जिस रूप से आस्वाद्य होता है उससे अभिन्न है ।

इन पदों से यह स्पष्ट हो जाता है रस अलौकिक एवं सहृदय संवेद्य है ।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रस की स्पष्ट परिभाषा न प्रस्तुत करने पर भी उसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार रस ब्रह्मानन्द के समान है, जो सभी प्रकार के अनुभवों से भिन्न एक प्रकार का विलक्षण आनन्द है ।

२.३.२ रस की अवधारणा

भारतीय आचार्यों ने रस संबंधी अपनी अवधारणाएँ विस्तार से व्यक्त की है । उन अवधारणा ओं की सामान्य चर्चा करना आवश्यक है ।

भरत

भरतमुनि ने नाट्य की दृष्टि से रस पर विस्तार से विचार किया है । उन्होंने रस को आस्वादयोग्य तत्व प्रतिपादित कर बताया है कि जिस प्रकार विभिन्न व्यजनों से युक्त अन्न या भोजन प्राप्त कर सुन्दर मनवाले व्यक्ति आस्वादन लाभ करते हैं और हर्ष इत्यादि की उपलब्धि होती है उसी प्रकार विभिन्न भावाभिनय द्वारा व्यंजित वाणी, अंग और सत्वयुक्त स्थायी भावों का सुसंस्कृत प्रेक्षक आस्वादन पाप्त करता है और उससे आनन्द पाता है ।

भरतमुनि के इस मत से स्पष्ट होता है कि रस का आस्वादन किया जाता है और हर्ष या आनंद की प्राप्ति भी होती है । अतः रसास्वादन में हर्ष आदि भावों का अस्तित्व पृथक दिखायी देने पर भी बास्तव में इन देनों को अभिन्न मान गया है ।

विद्वानों ने भरत के मत पर आक्षेप किया है कि उन्होंने रस को विषयगत माना है, विषयीगत नहीं । किन्तु भरत की दृष्टि में विषयगत और विषयीगत में कोई अन्तर नहीं है ।

अभिनव गुप्त

अभिनव गुप्त ने रस के स्वरूप पर विशद विवेचन किया है । उन्होंने रस को आनन्दरूप माना है जो वस्तुतः आत्मा का धर्म है । उन्होंने रस को स्पष्ट रूप से सहृदय सम्बद्ध बताया है । उनके अनुसार आनन्द की स्थिति विषय में नहीं है, अपितु प्रमाता अपनी ही आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है । काव्य विषयक परिशीलन से आत्मा को ही आनन्द का अनुभव प्राप्त होता है ।

परवर्ती काल में अभिनव गुप्त की रस संबंधी इस अवधारणा को बड़ा ही गौरव प्राप्त हुआ, जिसका काव्यशास्त्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा ।

रुद्रट

रुद्रट ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया । रस के संबंध में उनका अभिमत यह है कि रस के अभाव में कोई भी काव्य शास्त्र की भाँति नीरस हो जाता है ।

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में रस को नाटक तक सीमित रखने का विरोध किया और रसहीन समस्त काव्य को शास्त्र की श्रेणी में रखने का आग्रह किया है ।

रुद्रट ने रस की संख्या में भी वृद्धि कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

वामन

रीति सिद्धान्त के प्रतिपादक वामन ने गुणों को काव्यशोभाकर धर्म, अलंकार को शोभावर्धक और रस को गुणों की कान्ति कहा है ।

आनन्दवर्धन

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने काव्य में रस को प्रधान तत्व माना है और रस की आस्वादन प्रक्रिया, स्वरूप एवं प्राप्ति, तीनों पर वैज्ञानिक ढंग से विवचन किया है ।

ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आनन्दवर्धन ने वस्तु तथा अलंकार के साथ रस को भी ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार किया है एवं रसध्वनि को वस्तु-ध्वनि और अलंकार ध्वनि से अधिक महत्व दिया है । उनके अनुसार रसध्वनि वाले काव्य ही सर्वश्रेष्ठ काव्य है ।

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए भी आनन्दवर्धन ने रस को प्रेरक और साररूप माना है ।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट के 'श्रृंगार तिलक' में रस को नाट्येतर काव्य में स्वीकार कर लिया गया है । उन्होंने भी रसों का विस्तार से वर्णन किया है ।

भामह

भामह अलंकारवादी होते हुए भी रस के पोषक हैं । उन्होंने भी रसका विस्तृत विवेचन किया है । उन्होंने रस को अलंकार के अन्तर्गत रखा एवं रस संबंधी तीन अलंकारों का वर्णन किया है - रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी ।

भोज

भोजराज ने 'श्रृंगारप्रकाश' में रस का विस्तार के साथ वर्णन किया है । उनके अनुसार श्रृंगार ही एकमात्र रस है और उसमें सभी रसों का समावेश हो जाता है ।

मम्मट

आचार्य मम्मट रस सिद्धान्त के प्रवल समर्थक रहे । उन्होंने 'काव्यप्रकाश' में काव्य के प्रयोजन में आनन्द एवं रस की प्रतिष्ठा कर रस तत्व की महिमा प्रतिष्ठित की है ।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । उन्होंने रस का वर्णन ध्वनि या अलंकार के अन्तर्गत न रखकर स्वतन्त्र रूप से किया है ।

विश्वनाथ के अनुसार कुछ विरले सहृदय सामाजिक जन ही इस काव्यानन्द का अनुभव किया करते हैं जिसे रस कहा जाता है । इस रस का अनुभव उन्हें तभी हो पाता है जब काव्यादि के अनुशीलन में सत्व का उद्रेक अथवा प्राबल्य हो जाता है । सहृदय के अनुभव का यह विषय 'रस' अखंड, स्वयंप्रकाश, आनन्दमम है । यह एक ऐसा अनुभव है जिसके साथ अन्य किसी भी वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता । यह अनुभूति ब्रह्मानन्द अनुभूति के समान है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं होता । यह एक अलौकिक चमत्कार है ।

इस प्रकार विश्वनाथ ने रस को ब्रह्म की तरह अखंड, अद्वितीय, स्वयं-प्रकशमान आनन्दस्वरूप एवं चमत्कारमय माना है । उनके अनुसार रस एक नित्य तत्व है जिसकी उत्पत्ति नही होती, यह एक आनंदमयी चेतना है । उनके अनुसार सत्वोद्रेक से अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण और अपनी आकार से अभिन्न रस आस्वादित होता है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार रस तथा उसकी अवधारणा के सम्बंध मे अनेक आचार्यें के अनेक मत मिलते हैं । इनमें से अधिकांश आचार्यों ने रस को सहृदयगत माना है । अभिनव गुप्त ने रस को आत्मा की भाँति आनन्द- रुप माना है जो सुख-दुख से परे है । आचार्य विश्वनाथ ने इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।

२.३.३ रस के अंग

भरतमुनि ने रस की परिभाषा देते हुए कहा है - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयागाद्रसनिष्पतिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । आगे उन्होंने यह बताया है कि अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव ही रसावस्था को प्राप्त होते हैं - 'नाना भावोपदिता अपि स्थापिनो भावाः रसत्वमाप्नुवन्ति ।'

आचार्य मम्मट ने भी विभावादि से युक्त स्थायी भाव को रस बतलाया है ।

भाव

भरत के अनुसार मानसिक अवस्थाओं के व्यंजक तत्त्व ही भाव है - 'कवेरन्तर्गत भावं भावयन् उच्यते ।'

अमरकोष में मन के विकारो को भाव कहा गया है - 'विकारो मानसो भावः ।'

'रसतरंगिणी' में भानुदत्त ने 'रसानुकूलो विकारो भावः' कहा है । अर्थात् रस के अनुकूल मन का विकार भाव है ।

ये भाव चार प्रकार के हैं - स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव । ये ही रस के अंग हैं ।

स्थायी भाव

रसों के मूलभूत कारण स्थायी भाव हैं ।

धनंजय के अनुसार जो भाव विरोधी और अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावों को शीघ्र ही अपने में मिला लेता है, उसका नाम स्थायी भाव है ।

स्थायीभाव का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि जिसे अविरुद्ध या विरुद्ध भाव छिपा न सके वही आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी है ।

पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार जिस भाव का स्वरूप सजातीय एवं विजातीय भावों से तिरस्कृत न हो सके और जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक वर्तमान रहे, वह स्थायी भाव कहलाता है ।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है रस का आधार स्थायी भाव है, जो सहृदयों में संस्कार रूप में विद्यमान रहता है और विरोधी अथवा अविरोधी भावों से नष्ट नहीं होता ।

स्थायी भाव ही रस की अभिव्यक्ति का मूल कारण है । यह अन्य भावों की तुलना में अधिक शक्ति और गुरुत्व रखता है ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिचारकों द्वारा घिरे रहने पर भी राजा ही राजा कहलाता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारियों से संयुक्त होने पर भी स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है ।

स्थायी भाव की पाँच विशेषताएँ हैं -

(१) आस्वाद्यत्व - जिसका आस्वादन किया जा सके ।

(२) उत्कटत्व - जो इतना प्रगाढ और सशक्त हो कि उससे मन पर प्रभाव पड़ सके ।

(३) सर्वजनमूलभत्व - जो सबके लिए सुलभ हो ।

(४) पुरुषार्थोपयोगिता-पुरुषार्थ की प्रेरण देनेवाला ।

(५) औचित्य ।

प्रत्येक रस का एक-एक स्थायी भाव होता है । उनके लिए देवताओं और वर्णों को भी निश्चित किया गया है, जो इसप्रकार हैं -*

रस	स्थायीभाव	देवता	वर्ण
१. श्रृंगार	रति	विष्णु	श्याम
२.हास्य	हास	प्रमर्थ	श्वेत
३.रौद्र	क्रोध	रुद्र	रक्त
४.करूण	शोक	यम, वरुण	कपोत
५. बीभत्स	जुगुप्सा	महाकाल	नील
६. भयानक	भय	कालदेव	कृष्ण
७. वीर	उत्साह	इन्द्र	स्वर्ण
८. अद्‌भुत	विस्मय	गंधर्व	पीत
९.शान्त	निर्वेद	पूषा	अरूण

विभाव

विभाव का अर्थ है कारण या निमित्त । विभाव भावोत्तेजना के मूल कारण होते हैं ।

'विभावयन्ति इति विभावा:', अर्थात् सहृदयों के ह्रदय मे संस्कार रूप में विद्यमान स्थायी भावों को जगाने वाले कारण विभाव कहलाते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र सुक्ल के अनुसार विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है । जो व्यक्ति या पदार्थ अथवा बाह्य विकार किसी व्यक्ति के मन में भावों को जाग्रत करते हैं, इन भावोद्‌बोधक अथवा रसाभिव्यक्ति के कारणों को विभाव कहते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार लोक या संसार में रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों के जो जाग्रत करने वाले होते हैं वे जब काव्य या नाटक में वर्णित होते हैं, विभाव कहलाते हैं ।

विभाव के दो रूप हैं -

(१) आलम्बन विभाव और

(२) उद्यीपन विभाव

आलम्बन विभाव

वह मूल वस्तु या भाव, जिससे स्थायी भाव जागृत होता है, आलंम्बन विभाव है । अर्थात् जिसके आधार पर कोई स्थायी मानसिक भाव जाग्रत होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं ।

भावों का उद्‌गम यद्यपि आश्रय में होता है, फिर भी उनका सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु या व्यक्ति से होता है, जिसके कारण भाव का उद्‌गम होता है । अतः जिस मुख्य भाव या वस्तु के कारण भावोंका उद्‌गम हो वह काव्य में आलम्बन कहलाता है ।

उद्दीपन विभाव

उद्दीपन का मतलब है उद्दीप्त करना ।

स्थायी भाव को जाग्रत रखने में सहायक भूत कारण उद्दीपन विभाव कहलाते हैं । आलम्बन की ऐसी चेष्टाएँ जो जागृत भावों को उत्तेजित करती हैं उद्दीपन विभाव कहलाती हैं ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो रस को उद्दीप्त करते हैं वे उद्दीपन विभाव हैं । आलम्बन की चेष्टाओं तथा उन चेष्टाओं को अधिक तीव्र और प्रभावशाली बनानेवाले वातावरण ही उद्दीपन कहलाता है, क्योंकि भावोद्दीपन के लिए परिस्थितियों की अनुकूलता होनी चाहिए ।

रस के अनुसार विभाव पृथक् पृथक् होते हैं, जैसे -

	रस	आलम्बनविभाव	उद्दीपन विभाव
१.	शृंगार	नायक/नायिका	नायक-नायिका की वेशभूषा, चेष्टाएँ
२.	हास्य	विचित्र आकृति	हसी को बढ़ानेवाली चेष्टाएँ
३.	करुण	प्रियजन वियोग	प्रियजन के गुणों का स्मरण
४.	रौद्र	अत्याचारी व्यक्ति	अत्याचारी द्वारा किये गये अनुचित कार्य
५.	वीर	शत्रु	युद्ध के बाजे, शत्रु की ललकार
६.	भयानक	हिंसक जीव	हिंसक प्राणियों की चेष्टाएँ
७.	वीभत्स	घृण्य वस्तु	बदबू, कृमि, मक्खियाँ
८.	अद्‌भुत	अद्‌भुत दृश्य	विचित्र दृश्यों का वर्णन
९.	शांत	ईश्वर चिन्तन	तपोवन, तीर्थ भ्रमण

अनुभाव

अनु का मतलब होता है पीछे या बाद में । अनुभाव भावों के अनु अर्थात् पश्चात - धर्मी होते हैं ।

आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणें से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करनेवाले, कार्य अनुभाव हैं । लोकजीवन में ये अनुगामी व्यापार कार्य समझे जाते हैं, किन्तु काव्य या नाटक में इन्हें अनुभाव कहा जाता है ।

भावों की व्यंजना अनुभावों के चित्रण के द्वारा ही की जाती है । भावों का प्रत्यक्ष बोध करानेवाली आश्रम की चेष्टाएँ ही अनुभाव कहलाती हैं ।

धनंजय अनुभावों को विकार रूप तथा भावों का सूचक मानते हैं ।

काव्य में अनुभावों की व्यंजना आवश्यक मानी जाती है ।

ये अनुभाव कभी स्वाभाविक रूप से और कभी प्रयत्नपूर्वक प्रकटित होते हैं । इसके आधार पर अनुभाव के दो भेद हैं - सात्विक और कयिक ।

सात्विक अनुभाव

स्वाभाविक रूप में व्यक्त होनेवाले शारीरिक व्यापार, जिन पर नियंत्रण नहीं रखा जा सकता, सात्विक अनुभाव कहलाता है ।

स्थायी भाव के जाग्रत होने पर स्वाभाविक, अकृत्रिम अयत्नज अंगविकार ही सात्विक अनुभाव हैं । ये स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं, इन्हें रोका नहीं जा सकता ।

सात्विक अनुभाव आठ माने गये हैं - (१) स्तंभ (आवाक् हो जाना) (२) स्वेद (पसीना निकलाना), (३) रोमांच (४) स्वरभंग (५) वेपथु (कंपकंपाहट) (६) वैवर्ण्य (रंग उड़ जाना) (७) अश्रु और (८) प्रलय (मूर्च्छित होना) ।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरसादोऽर्त बेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलयः इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥ (साहित्य दर्पण)

कायिक अनुभाव

शरीर की कृत्रिम चेष्टा कायिक अनुभाव है ।

इसके भी तीन भेद किये गये हैं -आंगिक, वाचिक और आहार्य ।

(१) आंगिक अनुभाव

आश्रम द्वारा आलम्बन को प्रभावित करने के लिए या उससे प्रभावित होने के परिणाम स्वरूप जानबूझ कर प्रयत्न पूर्वक की गई चेष्टाएँ, जैसे-कटाक्षपात, भृकुटि भंग आदि आंगिक अनुभाव कहलाती हैं ।

(२) वाचिक अनुभाव

प्रयत्नपूर्वक किये गये वाव्यापार अथवा बोलचाल से संबंधित अनुभाव को वाचिक अनुभाव कहते हैं । इसमें वाणी को प्रसंगानुकूल उग्र अथवा मृदु किया जाता है ।

(३) आहार्य अनुभाव

आरोपित या कृत्रिम वेश रचना को आहार्य अनुभाव कहा जाता है ।

व्यभिचारी भाव

धनंजय ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा देते हुए कहा है -

'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण: ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना: कल्लोला इव वारिधौ ।'

अर्थात् जो भाव विशेष रूप में स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं. और लहरें समुद्र में जैसे पैदा होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दृष्टिगत होते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।

व्यभिचारी भाव को संचारी भाव भी कहते हैं । संचारी का अर्थ है संचरण करनेवाला । ये मन के वे भाव हैं जो क्षण - क्षण में जाग्रत और लुप्त होते हैं ।

व्यभिचारी भाव वे अस्थायी भाव हैं जो स्थायी भावों के सहायक के रूप में अनुकुल परिस्थितियों में घटते बढ़ते हैं । भिन्न-भिन्न रसों में इन भावों का बार-बार संचरण होता है । इसीलिए इन्हें व्यभिचारी कहा गया है ।

व्यभिचारी या संचारी भावों की संख्या तैतीस है- निर्वेद (इदासीनता), ग्लानि, विषाद, शंका, आवेग, दैन्य, मद, मोह, उग्रता, अमर्ष, श्रम (शारीरिक और मानसिक खेद), उन्माद, असूया, चिंता, औत्सुक्य, आलस्य, निद्रा, व्याधि, धृति (धैर्य), हर्ष, गर्व, मति (ज्ञान का उदय), चापल्य, पीड़ा, अवहित्था (गंभीरता), स्वप्न, विबोध (निन्दा का विपरीत भाव) अपस्मार (स्मृति का भ्रष्ट होना), स्मृति, त्रास, वितर्क, जड़ता और मरण (मूर्च्छा) ।

सहृदय की अनुभूति के समय स्थायी भाव उसकी स्थिर वृत्ति होती है तो व्यभिचारी भाव बीचबीच में प्रकट होनेवाली अस्थिर वृत्ति होती है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार स्थायी भाव आश्रय के हृदय में आलम्बन विभाव के द्वारा जाग्रत और उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त होकर व्यभिचारी या संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है । स्थायी भाव के अनुभूति ही रसानुभूति कहलाती है ।

२.३.४ रस निष्पत्ति

रस सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक माने जाने वाले भरत - मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रस के संबंध में जो मूलसूत्र कहा वह है - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पति:', अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' - ये दोनों शब्द विवादास्पद रहे हैं । भिन्न - भिन्न आचार्यों ने इनके भिन्न-भिन्न अर्थ बताये हैं । इनकी व्याख्या करनेवाले चार प्रमुख आचार्य हैं भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त । इनके उनुसार रस-निष्पत्ति का मतलब क्रमश; रस की उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति और अभिव्यक्ति से है, और उनके द्वारा प्रदत्त सिद्धान्त क्रमश; उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद के रूप में जाना जाता है ।

इन आचार्यों के मतों की व्याख्या नीचे की जा रही है ।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्टलोल्लट ने 'निष्पत्ति' को उत्पत्ति के अर्थ में लिया है । इस दृष्टि से उनके सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद कहा जाता है । उन्होंने 'संयोग' शब्द का अर्थ कार्य-कारण संबंध बताया है ।

भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि कारण हैं और रस कार्य है । उन्होंने रस की स्थिति ऐतिहासिक पात्र, नायक राम आदि में मानी है । विभिन्न वेशभूषा द्वारा नट उनका अभिनय करते हैं । इसलिए इसका आरोप नट में किया जाता है । इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस उत्पन्न होता है ।

यह सम्बन्ध तीन प्रकार होता है -

१. उत्पाद्य- उत्पादक सम्बन्ध से विभावों द्वारा दर्शक में रस उत्पन्न होता है ।

२. गम्य-गमक संबंध से अनुभावों द्वारा पात्र दर्शक के समक्ष रस की अभिव्यक्ति करते है ।

३. पोष्य-पोषक संबंध से व्यभिचारी भाव रस को पुष्ट करते हैं ।

उत्पत्तिवाद में निम्नलिखित बातें विशेष महत्वपूर्ण हैं -

(१) स्थायीभाव का मूलसूत्र में उल्लेख नहीं है । परन्तु भट्टलोल्लट के मत में स्थायी भाव का रस के मूलरूप मे पृथक् उल्लेख किया गया है । इसमें स्थायी भाव का संयोग माना गया है ।

(२) यह स्थायीभाव आलम्बन विभावों में उत्पन्न होता है एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुभावों द्वारा व्यक्त होते हुए अनुकार्य में रसरूप से रहता है । यहाँ निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है ।

(३) नट अभिनय द्वारा केवल उन भावों का अनुकरण करता है । वास्तव में वह रस रूप स्थायीभाव नट में उत्पन्न नहीं होता, अनुभावों के अभिनय द्वारा या उसकी वेशभूषा द्वारा नट में उसका आरोप कर लिया जाता है । इसलिए इसको आरोपवाद भी कहते हैं ।

इस प्रकार भट्टलोल्लट के इस सिद्धान्त के तीन नाम हो सकते हैं -

(१) उत्पत्तिवाद (मूल नायक के कारण)

(२) आरोपवाद (नट के कारण)

(३) चमत्कारवाद (प्रेक्षक के कारण)

अतः भट्टलोल्लट के द्वारा की गई भरत के सूत्र की इस व्याखा में रस के विभिन्न अवयवों का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि विभाव और स्थायीभाव में कार्य कारण संबंध है । विभाव कारण है और स्थायी भाव कार्य है । व्यभिचारी भाव स्थायीभाव के सहकार्य हैं ।

सारंशतः इस मत के अनुसार विभावों से रस की उत्पत्ति, व्यभिचारी भावों से पुष्टि और अनुभावों से अभिव्यकित हेती है ।

उत्पत्तिवाद पर लगाये गये आरोप

भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद पर विद्वानों ने आरोप लगाया है ।

पहला आरोप यह है भरत के सूत्र में स्थायी भाव का उल्लेख नही है । भरत ने स्थायी भाव को रस से भिन्न नहीं माना है । यह ऐसी वस्तु भी नहीं है जो पहले अपुष्ट रूप में रहती है और बाद में पुष्ट होकर रस रूप धारण करती है ।

दूसरा आरोप यह है कि स्थायी भाव कार्य नहीं है । यदि रस कार्य है तो निमित्तकारण विभावादि हैं । निमित्त कारण (जैसे स्वर्णकार)के नष्ट होने पर भी कार्य (अलंकार) बना रहता है । किन्तु विभावादि के नष्ट होने पर रस नहीं हो सकता ।

भट्टलोल्लट का यह मत पूर्णनहीं है । फिर भी इसका महत्व कम नहीं है । वे ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस निष्पत्ति पर विचार किया और अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया ।

शंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक ने न्याय दर्शन के अनुमान प्रमाण के आधार पर अनुमितिवाद की स्थापता की है ।

शंकुक ने निष्पत्ति को अनुमिति तथा संयोग को अनुमाप्य-अनुमापक संबंध माना है । उनके अनुसार विभावादि अनुमापक और रस अनुमाप्य है ।

शंकुक द्वारा की गई रस निष्पत्ति की व्याख्या के अनुसार विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमान के बल से युक्त अनुकरण रूप में अनुकर्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान होता है ।

शंकुक के अनुसार रस की उत्पत्ति नहीं होती, वरन् रस का अनुमान किया जाता है । उन्होंने सामाजिक के साथ रस के सम्बन्ध को दिखलाकर उसीमें उसकी स्थिति मानी है । रस सामग्री, विभाव, अनुभाव, संचारी के आधार पर दर्शक रस का अनुमान करता है ।

स्थायी भाव और रस का अनुभव प्रत्यक्ष रूप में नहीं किया जा सकता, उसका अनुमान मात्र ही रस सामग्री से किया जा सकता है । अत: रस की उत्पत्ति नहीं अनुमिति या प्रतीति मात्र होती है ।

अनुमितिवादपर लगाये गये आरोप

शंकुक के अनुमितिवाद पर भी विद्वानों ने आरोप लगाया है । उनके अनुसार शंकुक के सिद्धान्त में विशेष रूप से दो बातों पर बल दिया गया है - अनुकरण और अनुमान । परंतु अनुमान सत्य नहीं हो सकता । ऐसे में मिथ्या के बलपर सत्य की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

रस या भाव अनुभव पर आधारित है, अनुमान पर नहीं। वस्तुत: अनुकरण संपूर्ण नहीं हो सकता । वह तो केवल घटी घटनाओं के प्रति सामाजिक के मन में संवेदना जगा सकता है ।

शंकुक का रस सिद्धान्त एक प्रकार से भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का विकसित रूप है । भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में सामाजिक के योगदान की भूमिका प्रस्तुत हुई थी और शंकुक ने सामाजिक आस्वादन का मुख्यरूप से विवेचन प्रस्तुत किया है ।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भरत के सूत्र के तीसरे व्याख्याता हैं भट्टनायक । उन्होंने सांख्यमत के आधार पर भुक्तिवाद या भोगवाद की स्थापना की है ।

भट्टनायक के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है और संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक संबंध है ।

उन्होंने रस की स्थिति प्रेक्षक के हृदय में स्वीकार की है । उनके अनुसार काव्य तथा नाटक अभिधा

से भिन्न एक भावकत्व नामक व्यापार होता है, जिसका स्वरूप विभावादि का साधारणीकरण करना है । उसके द्वारा साधारणीकृत स्थायीभाव उस भोग के द्वारा भोगा जाता है, सत्त्व के उद्रेक से होनेवाली प्रकाशात्मिका तथा आनन्दात्मिका अनुभूति मात्र ही जिसका स्वरूप है, उसकी अनुभूति होती है ।

भट्टनायक के अनुसार रस न उत्पन्न होता है, न प्रतीत या अनुमित होता है और न अभिव्यक्त होता है । उनके अनुसार काव्य शब्द का व्यापार है और इस शब्दात्मक काव्य की तीन शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा रस का भोग होता है ।

ये शक्तियाँ हैं - (१) अभिधा

(२) भावकत्व और

(३) भोजकत्व

अभिधा के द्वारा काव्यगत सामान्य अर्थ का ज्ञान होता है । यह शाब्दिक अर्थका बोध कराने वाली शक्ति है ।

भावकत्व द्वारा प्रेक्षक या पाठक का हृदय वैयक्तिक संबंधों को छोड़कर साधारण मनुष्य की भावभूमि पर आ जाता है । यह भाषा की वह तत्वशक्ति है जिसके द्वारा सामाजिक का हृदय अभिनीत भाव से भावित होता है । सामाजिक अपनी रुचि के अनुरुप अपने को उक्त कथा का पात्र समझ लेता है । इस अवस्था में अपने-पराये का भाव मिट जाता है ।

भोजकत्व भाषा की वह शक्ति है जिसके द्वारा सामाजिक रस का भोग करता है । भोजकत्व का अर्थ है रजोगुण और तमोगुणको अभिभूत कर सत्वगुण के प्रादुर्भाव से उत्पन्न आनन्द स्वरूप ज्ञान का भोग । भोजकत्व में नायक के रजोगुण, तमोगुण, सत्वगुण से युक्त लौकिक भाव अलौकिक रूप धारण करता है । इसी अलौकिकता में आनन्द का प्रकाश प्राप्त होता है जो 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहलाता है ।

भट्टनायक के मत पर भी विद्वानों ने आरोप लगाया है ।

पहला आरोप यह है कि जब भट्टनायक रस की प्रतीति को स्वीकार नहीं करते तो उसकी सत्ता कैसे स्वीकृत हो सकती है ?

दूसरा आरोप भोग को त्रिविध मानने के संबंध मे है । भट्टनायक द्वारा भाजकत्व को अलग शक्ति मानना आपत्तिजनक है ।

इस भुक्तिवाद में भट्टनायक ने साधारणीकरण की जो परिकल्पना की है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जिसकी चर्चा प्राय: सभी परवर्ती आचार्यों ने की है । सामाजिक की दृष्टि से रसास्वाद की सही व्याख्या भट्टनायक ने की है कि रजोगुण तथा तमोगुण के परिहार के द्वारा सत्व का उद्रेक ही रस को आस्वादन योग्य बनाता है ।

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त रस सूत्र के चतुर्थ और सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार हैं । उन्होंने वेदान्त मत के आधार पर अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है ।

अभिनव -गुप्त ने निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक सम्बंध बताया है ।

उनके अनुसार रति आदि स्थायी भाव पाठकों के अन्त: करण में वासना या संस्कार के रूप में रहते हैं, जो कि विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त होते हैं । उन्होंने सामाजिक के हृदयस्थित स्थायी भाव को रसानुभूति का निमित्त कारण माना है, जो बीज रूप में मानव मन में पड़े रहते हैं । ये स्थायी भाव ही साधारणीकृत होकर प्रेक्षक को ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द रस में निमग्न कर देते हैं ।

अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य हमारी भावुक वेदना या भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है । वह नये भावों का सृजन नहीं करता ।

अभनिव गुप्त का कहना है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मनुष्य जो विभिन्न अनुभव प्राप्त करता है, वे ही संस्कार या वासना रूप में उसके मन में स्थित हो जाते हैं । किसी विशेष घटना या कुशल अभिनय द्वारा विभावादि के प्रदर्शन से ये भाव अभिव्यक्त होते हैं । इन संस्कारों के अभाव में रस की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती ।

सारांशत: अभिव्यक्ति-वाद की विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

(१) रस की निष्पत्ति सामाजिक में होती है ।

(२) सामाजिक में स्थायीभाव वासना को संस्कार रूप में स्थिर रखते हैं और उनकी अभिव्यक्ति साधारणीकृत विभावादि के संयोग से संभव होती है ।

(३) इस सिद्धान्त के अनुसार संयोग का अर्थ व्यंजना और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है ।

अभिव्यक्तिवाद के पोषक

इन प्रमुख चार आचार्यों के अतिरिक्ति कुछ आचार्यों ने रससूत्र का विवेचन किया है, इनमें से अधिकांश अभिव्यक्तिवाद के ही समर्थक रहे हैं ।

धनंजय ने अभिनव गुप्त के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्थायी भाव विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावों द्वारा होकर रस रूप में परिणत हो जाता है । रस वास्तविक रूप में सामाजिक को ही प्राप्त होता है, वह न अनुकार्य में रहता है और न कवि में ।

धनंजय ने रसास्वादन के लिए सहृदयता को आवश्यक माना है । यदि अभिनेता सहृदयी हो तो अभिनय के समय वह भी रसास्वादन कर सकता है ।

आचार्य विश्वनाथ ने अभिव्यक्ति - वाद का समर्थन करते हुए अभिव्यक्ति को परिणति के अर्थ में लिया है । जैसे दूध दही में परिणत हो जाता है उसी प्रकार विभावादि भी रस के रूप में परिणत हो जाते हैं ।

निष्कर्ष

भरत के रससूत्र में दो ऐसे शब्द आ गये जिनकी व्याखा करना आवश्यक हुआ । ये दो शब्द हैं संयोग और निष्पत्ति । विभिन्न विद्वानों ने इन्हें अलग अलग अर्थों में लिये एवं तदनुसार नये नये सिद्धान्त सामने आये ।

भट्टलोल्लट ने 'निष्पत्ति' को उत्पत्ति के अर्थ में लेकर उत्पत्तिवाद की स्थापना की तो शंकुक ने अनुमिति के अर्थ में अनुमितिवाद की स्थापना की । उसी-प्रकार भट्टनायक ने भुक्तिवाद की एवं अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्ति वाद की स्थापना की । इनमें से अभिव्यक्तिवाद ही सर्वश्रेष्ठ माना गया जिसका समर्थन बाद के अधिकांश आचार्यों ने किया ।

२.३.५ रस का साधारणीकरण

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है विशेष का विलय होकर साधारण में परिवर्तित हो जाना या असाधारण का साधारणीकरण ।

साधारणीकरण अनुभूति की वह स्थिति है जिसमें वस्तुएँ स्थाना तथा काल की उपाधि से युक्त होकर भी निर्वैयक्तिक रूप में दिखायी पड़ती है ।

साधारणीकरण सिद्धान्त के प्रवर्तक भट्टनायक माने जाते हैं । उन्होंने रस निष्पत्ति के लिए साधारणीकरण को आवश्यक माना है । उनके अनुसार उत्पत्तिवाद तथा अनुमितिवाद की स्थापनाओं मे जो तटस्थ और आत्मगत दोष आ जाते हैं, उनके परिहार के लिए साधारणीकरण की स्वीकृति आवश्यक है ।

जब पाठक या दर्शक काव्य अथवा नाटक के अभिधार्थ को ग्रहण कर लेता है, उसके हृदय मे भावकत्व शक्ति के द्वारा सत्व की प्रधानता होती है । इस स्थिति में उसके हृदय से 'मैं' और 'पर' का द्वेष दूर हो जाता है । वह प्रदर्शित अथवा वर्णित घटना या पात्र को उसके स्थितिविशेष में नहीं ग्रहण करता । वह उनको अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध भी नहीं समझता और इसी स्थिति का फल है कि सहृदय भोजकत्व शक्ति के द्वारा उद्‌बुद्ध भावों का रसास्वादन करता है । वस्तुत: वह परिस्थिति विशेष जिस व्यापार से संभव होती है, उसी को साधारणीकरण माना गया है ।

साधारणीकरण काव्य की भावना द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमिपर पहुँच जाना है । किसी काव्य को पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय पाठक और दर्शक इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे स्वयं की भावना से दूर काव्य भावना के अनुकूल व्यवहार करते हैं । इसी दशा का नाम साधारणीकरण है ।

साधारणीकरण में श्रोता या पाठक एक साथ एक ही भावना का अनुभव करते हैं ।

भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में साधारणीकरण का स्पष्ट उल्लेख तो प्राप्त नहीं होता, परन्तु इस ओर संकेत अवश्य मिल जाता है, जहाँ वे कहते हैं कि रति आदि स्थायी भाव सामान्य गुणों से युक्त होते हैं, इसलिए उनसे सहृदय प्रेक्षकों की सहानुभूति प्राप्त होती है ।

भट्टनायक के अनुसार मुख्यार्थबोध के उपरान्त भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण का कार्य संपन्न होता है । वे विभावों के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थायीभावों में विशिष्ट संबंधों से युक्त होने की प्रक्रिया को साधारणीकरण मानते हैं । उनके अनुसार विभावादि का साधारणीकरण अभिधा से इतर भावकत्व व्यापार द्वारा संपन्न होता है जिसके फलस्वरूप विभावादि अपनी निजता का परिहर तो कर ही देते हैं, पाठक या प्रेक्षक का हृदय भी अपने -पराये की भावना से परे सत्वोद्रेक की अवस्था तक पहुँच जाते हैं जहाँ विभावादि आस्वाद्य हो जाते हैं और अलौकिक आनन्दमय रस की ही अनुभूति श्रेष्ठ हो उठती है ।

अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण केवल विभावादि का ही नहीं, स्थायी-भावों का भी हो जाता है । वाक्यार्थ-वोध के पश्चात् जब साक्षात्कारात्मिका की प्रतीति होने लगती है उसी समय विभावादि के साथ ही स्थायीभावों का भी साधारणीकरण होने लगता है । जिस प्रकार राम आदि पात्र अपनी विशिष्टता का परित्याग कर केवल युवक और सीता आदि कांता मात्र रहजाते हैं उसी प्रकार स्थायी भाव की देशकाल के बंधन से मुक्त होकर व्यक्ति-संसर्ग से रहित हो जाते हैं ।

अभिनवगुप्त ने अपने मत में स्थायी भावों के साधारणीकरण पर अधिक बल दिया है । उनकी दृष्टि में स्थायीभाव के साधारणीकरण का अर्थ देशकाल तथा व्यक्ति - संसर्ग के बंधन से मुक्त होना है । व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता समाविष्ट रहती है । उसके अभाव में सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है ।

अभिनव-गुप्त के मतानुसार जिस प्रकार विभावादि स्थायी-भाव के कारण होते हैं उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण है । साधारणीकरण व्यक्तिगत

नहीं अपितु एक सामूहिक क्रिया है । केवल एक प्रमाटा भावमुक्त नहीं होता बल्कि समस्त सामाजिक एकाग्रचित्त होकर सामूहिक रूप से भाव का अनुभव प्राप्त करते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ ने भी विभावादि के साथ साथ रति आदि स्थायीभावों का साधारणीकरण स्वीकार किया है । उनके मतानुसार काव्य में रति आदि स्थायीभाव राम आदि पात्रों तथा सामाजिकों के लिए साधारण बन जाते हैं, अर्थात् वे सामाजिकों को भी उसी भाव की प्रतीति कराते हैं जिसकी राम को ।

विश्वनाथ ने साधारणीकरण की दशा में प्रमाटा (पाठक-पेक्षक) का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाने पर बल दिया है । उनके अनुसार इस तादात्म्य भाव के कारण प्रमाटा का, अनुमान आदि आश्रय द्वारा समुद्रोल्लंधन जैसे असंभाव्य कृत्य करते समय भी, उत्साह इषित नहीं होता । वे उसे असंभव नहीं समझते और साधारणीकरण के कारण स्वयं को आश्रय की मनोभूमि सें प्रतिष्ठित कर लेते हैं ।

सारांशत: विश्वनाथ के अनुसार साधारणीकरण ही विभावादि का विभावन व्यापार है जिससे विभावादि सभी साधारणीकृत हो जाते हैं । इसीके प्रभाव स्वरूप प्रमाटा अपने को आश्रय से अभिन्न समझते लगता हैं ।

धनंजय ने साधारणीकरण के विषय में कहा है कि अनुकार्य चाहे जैसा भी रहा हो, काव्य-नाटक मे वह कवि की कल्पना के अनुसार धीरोदात्त आदि नायक ही चित्रित होते हैं तथा काव्यगत पात्र अपनी विशिष्टता को छाड़कर सामान्य स्त्री-पुरुष मात्र रह जाते हैं । धनंजय के अनुसार काव्य-पठन या नाटक - प्रेक्षण के समय नायक-नायिका के प्रति पूर्व संस्कार जन्य विशिष्ट भाव लुप्त हो जाता है, उसके सम्मुख ऐतिहासिक व्यक्ति के स्थान पर कवि निर्मित पात्र मात्र रह जाता है ।

हिन्दी के आधुनिक आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का गंभीर विवेचन किया है । उनके अनुसार जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तबतक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्णशक्ति नहीं आती । विषय का इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलता है ।

साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है । साधारणीकरण का भाव है -

(१) वर्णित अथवा प्रदर्शित आलम्बन को सबके भाव का आलम्बन बनाना और

(२) आश्रय के समान आलम्बन के प्रति पाठक अथवा दर्शक का भाव हो जाना

रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण की व्याख्या के अन्तर्गत आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति की अनिवार्यता प्रतिपादित की है, जिसकी स्थितियों के अनुसार उन्होंने रस कोटि की कल्पना की है ।

(१) पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में उत्तम कोटि की रसात्मकता होगी ।

(२) जहाँ यह तादात्म्य न हो सकेगा और दर्शक अथवा पाठक प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्र का मात्र शीलद्रष्टा मा प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा, मध्यम कोटि की रसात्मकता मानी जाएगी ।

(३) रस की एक अधम कोटि भी मानी जा सकती है जिसमें पाठक या दर्शक आश्रय की भाव-व्यंजना से कुछ भी तादात्म्य नहीं कर पाता, केवल शीलवैचित्र्य के रूप में उसे ग्रहण करता है ।

श्यामसुन्दर दास के अनुसार साधारणीकरण कवि या भावुक की चित्रवृत्ति से संबंध रखता है । चित्रकी साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है ।

डा. नगेन्द्र का दृष्टिकोण आधुनिक मनोविज्ञान पर आधारित है । उन्होंने आश्रय, आलंबन, सहृदय की चेतना आदि सभी के साधारणीकरण पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए सर्वांग के साधारणीकरण को उपयुक्त स्वीकार किया है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त आलोचना से साधारणीकरण के संबंध में चार बातें स्पष्ट होती हैं -

(१) साधारणीकरण का अर्थ है काव्य की भावना द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना । विभावादि के साधारणीकरण का अर्थ है देश एवं काल की सीमाओं में आबद्ध विशिष्टता का तिरोभाव तथा सहृदय के साधारणीकरण का मतलब है व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्ति ।

(२) साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापर का होता हैं, केवल किसी पात्रविशेष का नहीं ।

(३) साधारणीकरण रसास्वाद का एक आवश्यक आयाम है । यह रसास्वाद में पृष्ठभूमि का कार्य करता है ।

(४) साधारणीकरण के संबंध में प्राचीन काल से आज तक विद्वानों ने जो चर्चा की है उससे उसका तात्पर्य धीरे धीरे स्पष्ट होता गया है ।

२.४ अलंकार सिद्धान्त :-

अलंकार से सम्बन्धित सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त है, जिसमें अलंकार को काव्य की आत्मा माना गया है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है । पहले तो अलंकार शास्त्र काव्यशास्त्र का पर्यायवाची माना जाता था । इसका उद्भव और विकास भी अति प्राचीन है, अलंकारों का अस्तित्व वेदों तक में विद्यमान है । रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में अलंकारों के उदाहरण भरे पड़े हैं । काव्यशास्त्र विषयक उपलब्ध ग्रंथों में प्राचीनतम भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलंकारों का विवेचन हुआ है ।

आचार्य भामह अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं । उनके 'काव्यालंकार' में अलंकारों का सर्वप्रथम क्रमबद्ध विवेचन मिलता है । उनके अनुसार काव्य के प्राण अलंकार हैं ।

अलंकार संप्रदाय के दूसरे प्रमुख आचार्य हैं दण्डी । उन्होंने 'काव्यादर्श' में काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहा है - 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।'

आचार्य वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का प्रतिष्ठापक कहा है - 'सौन्दर्यमलंकारः' । उनके अनुसार अलंकारों से ही काव्य ग्राह्य होता है ।

रूद्रट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वास्तव, औपम्य, अतिशय, और श्लेष आदि के आधारपर वर्गीकरण किया और अलंकारों के सूक्ष्म भेदोपभेदों का निरूपण किया ।

परवर्ती अलंकारवादियों ने अलंकार संप्रदाय के साहित्य का विकास मात्र किया । रूय्यक का 'अलंकार सर्वस्व', वाग्भट का 'वाग्भटालंकार', जयदेव का 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द' अलंकार विषयक महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं ।

२.४.१ अलंकार की अवधारणा

'अलंकरोति इति अलंकारः' - जो किसी वस्तु को सुशेभित करे वह अलंकार है ।

अतः 'अलंकार' का शाब्दिक अर्थ है सुशेभित करने वाला या वह जिससे सुशोभित हुआ जाता है ।

जिस प्रकार हारादि अलंकार रमणी के नैसर्गिक सौन्दर्य की शोभावृद्धि में उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमादि अलंकार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्षक होते हैं । वास्तव में अलंकार वाणी के विभूषण होते हैं । इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का संपादन होता है । इसलिए काव्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान है ।

अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह ने अलंकार की परिभाषा देते हुए शब्दार्थ की वक्रतामयी उक्ति का नाम अलंकार कहा है ।

काव्यदर्शाकार आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार बतायी है - 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' - अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं ।

वामन के अनुसार अलंकार शोभा का कर्ता नहीं अतिशयता है ।

रूद्रट के अनुसार अभिधा के कथन के प्रकार विशेष अर्थात् कवि प्रतिभा से प्रादुर्भूत कथन विशेष ही अलंकार है ।

आनन्दवर्धन ने वाणी की अनेक शैलियों को अलंकार कहा है ।

कुन्तक के अनुसार विदग्धों के कहने के ढंग ही वक्रोक्ति हैं और वे ही अलंकार हैं ।

मम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' में अलंकारों को काव्य-सौन्दर्यकारी गुणों का उत्कर्ष माना है । उनके अनुसार काव्य में शोभा लानेवालों को गुण कहते हैं, उनके अतिशय या उत्कर्ष के हेतु अलंकार हैं ।

महिमभट्ट ने गुण और अलंकार को चारूत्व का हेतु बताया है - 'चारूत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकारणम् ।'

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में अलंकार के बारे में इस प्रकार बताया है - शब्द एवं अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं जो शब्दार्थाधेय काव्य की शोभा को प्रवर्त्तित करते हैं तथा रस और भावादि के उपकारक और उत्कर्ष कारक होते हैं । अर्थात् अंगरात्रादि के समान शोभा में अतिशयता लानेवाले रसादि के उपकारक शब्दार्थ के अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं ।

हेमचन्द्र ने भी अलंकारों को काव्यांगाश्रित ही कहा है और आभूषणों के समान माना है - 'अंगाश्रिता अलंकारा: ।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भिन्न भिन्न कथन ढंग अलंकार कहलाते हैं ।

सुमित्रानन्दन पंत ने अलंकारों की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं हैं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार है और भाषा की पुष्टि के लिए आवश्यक उपादान हैं ।

अलंकार संबंधी उपर्युक्त अवधारणाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में चरम सौन्दर्य लानेवाले तत्व अलंकार हैं ।

निष्कर्षत: अलंकार शब्दार्थ की वह विशिष्ट कलात्मक रचना है जो अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करता हुआ पाठक में उसके द्वारा चमत्कृति, विमुग्धता, रंजन आदि भावों को व्यक्त करता है ।

२.४.२ काव्य में अलंकारों का स्थान

काव्य शब्दार्थमयी आनन्दप्रद रचना है । उसे सुन्दरता प्रदान करने के लिए और ग्राह्य बनाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है उनमें अलंकार अन्यतम है । अलंकार काव्य की सजावट और सौन्दर्य दोनों है ।

भामह के अनुसार अलंकार काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति करता है । वास्तव में अलंकार साधारण कथ्य को असाधारण तथा सर्वग्राह्य बनाता है ।

दण्डी ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म कहा है । अलंकार काव्य का सौन्दर्य है, अतः काव्य का जो कुछ अपना सौन्दर्य है वह अलंकार भी है ।

अलंकार से काव्य में भावोद्रेकता की स्थिति उत्पन्न होती है । इसलिए आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों को रस और भावादि का उपकारक और उत्कर्षकारक माना है । अलंकारयुक्त व्यंजना प्रभावशाली होती है । कवि-प्रतिभा अलंकारों द्वारा सत्य को सुन्दर बनाने में सक्षम सिद्ध होती है ।

अलंकारों द्वारा काव्य में सरसता उत्पन्न होती है ।

इस तरह अलंकार काव्य के रूप को सजाते हैं, उसमें मार्मिकता भर देते हैं, चमत्कार पैदा करते है तथा प्रभावात्मकता उत्पन्न कर देते हैं ।

२.४.३ अलंकारों का वर्गीकरण

आनन्दवर्धन ने वाणी की अनन्त शैलियों को अलंकार कहा है । अतः इस अनन्तता को दृष्टि में रखकर अलंकारों की निश्चित संख्या का निर्धारण अथवा उनका वर्गीकरण करना संभव नहीं है ।

अभीनवगुप्त के अनुसार किसी वक्तव्य को सामान्य जनता की साधारण बोलचाल से भिन्न, विचित्र और चमत्कारपूर्ण शैली से कहना ही अलंकार है । यह उक्तिवैचित्र्य अनेक प्रकार का होता है । अतएव उक्तिवैचित्र्य की अनेकता के आधारपर भिन्न-भन्नि प्रकार के अलंकारों की स्थिति संभव है ।

प्रत्येक अलंकार में उक्तिवैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों की कुछ मूलभूत प्रवृत्रियाँ ऐसी हैं, जिनके आधार पर अलंकारों को भिन्न - भिन्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है ।

अलंकारों के वर्गीकरण का मूल बीज भामह में था, जिन्होंने 'काव्यालंकार' में ३८ अलंकारों का उल्लेख किया है ।

उद्‌भट का वर्गीकरण

उद्‌भट ने ही पहली बार अलंकारों का विषयानुसार वर्गीकरण किया, जो निम्न प्रकार हैं -

(१) प्रथम वर्ग - ४ शब्दालंकार और ४ अर्थालंकार

(२) द्वितीयवर्ग - आक्षेप, अर्थान्तरन्यास आदि (९) अलंकार

(३) तृतीयवर्ग - यथासांख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति अलंकार

(४) चतुर्थवर्ग - प्रेयस्वत्, रसबत्, ऊर्जस्वी आदि ७ अलंकार

(५) पंचमवर्ग - ऊपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध आदि ११ अलंकार

(६) षष्ठ वर्ग - सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि आदि ६ अलंकार ।

रुद्रट का वर्गीकरण

रुद्रट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया । उन्होंने अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया-वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष ।

(१) वास्तव - वस्तु के स्वरूप का कथन वास्तव है । इसवर्ग में २३ अलंकारों को रखा गया - सहोक्ति, समुच्चय, जाति, भाव आदि ।

(२) औपम्य - जहाँ किसी वस्तु के स्वरूप का अधिक स्पष्टता के साथ वर्णन करने के लिए अप्रस्तुत योजना की जाती है, अर्थात् उसके समान दूसरी बस्तु का वर्णन किया जाय, वहाँ 'औपम्य' अलंकार होता है, इसके २१ भेद हैं - उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, ऊपह्नुति, संशय आदि ।

(३) अतिशय - जहाँ अर्थ और धर्म के नियमों का विपर्यय हो, वहाँ 'अतिशय' अलंकार होता है । इसके पूर्व, असंगति, पिहित, विशेष, विभावना आदि १२ भेद हैं ।

(४) श्लेष- जहाँ अनेकार्थ पदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध कराता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है । श्लेष अलंकार के दो भेद हैं - शब्दश्लेष और अर्थ श्लेष । अर्थश्लेष के १० भेद हैं - अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र आदि ।

रूय्यक का वर्गीकरण

'अलंकार सर्वस्व' में रूय्यक द्वारा किया गया वर्गीकरण अलंकारों के मूल तत्वों पर आधारित है । उन्होंने अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है - सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, श्रृंखलावद्ध, न्यायमूल, गूढ़ार्थप्रतीतिमूल ।

(१) सादृश्यगर्भ अलंकार - इनका मूलाधार साधर्म्य है । साधर्म्य का वर्णन तीन प्रकार से किया जाता है - भेदाभेदतुल्य प्रधान, अभेद प्रधान और भेद प्रधान ।

(क) भेदाभेद तुल्य प्रधान - इसमें चार अलंकार आते हैं -

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण ।

इन अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद नहीं होता, तुल्य साधर्म्य की स्थिति रहती है ।

(ख) अभेद प्रधान - इन अलंकारों में उपमेय -उपमान के साधर्म्य में अभेद कथन किया जाता है। इस वर्ग में आठ अलंकार हैं जिनमें से छः आरोपमूल एवं दो अध्यवसाय मूल हैं, जिनमें क्रमशः आरोप और अध्यवसाय का प्राधान्य रहता है ।

(ग) भेदप्रधान - इसके अन्तर्गत १६ अलंकार आते हैं, जैसे -

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त आदि ।

इनमें उपमेय - उपमान भाव रहता है ।

२. विरोधमूलक अलंकार - इन अलंकारों का मूलाधार विरोधात्मक वर्णन है । इसमे १२ अलंकार आते हैं - विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि ।

३. श्रृंखलाबद्ध अलंकार - इस वर्ग में चार अलंकार हैं - कारणमाला, एकाबली, मालादीपक और सार ।

इन अलंकारों में एकपद या वाक्य, श्रृंखलावत् दूसरे पद या वाक्य से सम्बद्ध रहता है ।

४. न्यायमूल अलंकार - इसमें १७ अलंकार आते हैं । ये सभी तर्क आदि विशेष न्यायों पर अवलम्बित हैं ।

इसके भी तर्क, काव्य और लोक के आधार पर तीन उप-वर्ग हैं -

(क) तर्कन्यायमूलक - काव्यलिंग और अनुमान अलंकार ।

(ख) काव्यन्यायमूलक - यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति आदि आठ अलंकार ।

(ग) लोकन्यायमूलक - प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित आदि सात अलंकार ।

५. गुढ़ार्थ प्रतीति मूल अलंकार - इस वर्ग के अलंकारों में गुढ़ अर्थ की प्रतीति होती है । इस वर्ग में तीन अलंकार हैं - सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति ।

इनके अलावा १२ अलंकारों को रूय्यक ने किसी वर्ग में नहीं रखा है ।

विद्याधर का वर्गीकरण

विद्याधर ने 'एकावलीसार' में अलंकारों को दो दृष्टियों से वर्गीकरण किया है - स्थुल और सूक्ष्म ।

(क) स्थूल रूप से अलंकारों को उन्होंने चार वर्गों में विभक्त किया है -

(१) वस्तुप्रतीति - समासोक्ति, आक्षेप आदि ।

(२) औपम्यप्रतीति - रूपक, उत्प्रेक्षा आदि ।

(३) रसभाव प्रतीति - रसवत्, प्रेय आदि ।

(४) अस्फुट प्रतीति - उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि ।

(ख) सुक्ष्म रूप मे विद्याधर ने अलंकारोंको नौ वर्गों में विभक्त किया है । वे हैं -

(१) साधर्म्य मूल,

(२) अध्ययवसायमूल,

(३) विरोधमूल,

(४) वाक्यन्यास मूल,

(५) लोक-व्यवहार मूल

(६) तर्कन्यायमूल,

(७) श्रृंखलावैचित्र्यमूल,

(८) अपह्नवमूल और

(९) विशेषण वैचित्र्य मूल ।

शब्द और अर्थ के आधार पर वर्गीकरण

शब्द और अर्थ को चमत्कृत करने के आधार पर अलंकारों का जो वर्गीकरण किया गया है वह सर्वाधिक लोकप्रिय और सर्वजन आदृत रहा है ।

इस आधार पर अलंकारों को तीन वर्ग में रखा गया है -

(१) शब्दालंकार - शब्द को चमत्कृत करने वाला ।

(२) अर्थालंकार - अर्थ को चमत्कृत करनेवाला ।

(३) उभयालंकार - शब्द और अर्थ, दोनों को चमत्कृत करने वाला ।

शब्दालंकार

जहाँ काव्य में चमत्कार का आधार केवल शब्द हो वहाँ शब्दालंकार होता है । शब्दालंकार वह है जो शब्दविशेष पर आश्रित होता है ।

शब्द के सुख्यत: दो रूप हैं - ध्वनि और अर्थ । ध्वनि के आधारपर शब्दालंकारों की सृष्टि होती है । यह काव्य का संगीत धर्म है ।

शब्दालंकारों में अलंकार का सौन्दर्य केवल शब्द-विशेष की ध्वनि पर आश्रित होता है, जो उस शब्द को बदल देने पर लुप्त हो जाता है ।

अलंकार जिस किसी विशेष शब्द की स्थिति में ही रहे और उसके स्थान पर कोई पर्यायवाची रखदेने से उनका अस्तित्व न रहे वह शब्दालंकार है ।

वर्ण निर्भर अर्थ-निरपेक्ष अलंकार ही शब्दालंकार कहलाते हैं । ये अलंकार शब्दाश्रित होकर शाब्दिक चमत्कार का ही विशेष संवर्धन करते हैं ।

शब्दालंकार गुच्छ वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते हैं ।

शब्दालंकार के प्रमुख भेद हैं अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, वीप्सा, पुनरुक्ति आदि ।

(१) अनुप्रास

'काव्यप्रकाश' में रसानुकूल वर्णों के विन्यास को अनुप्रास माना गया है - 'रसानुकूल वर्णनां न्यासः अनुप्रासः' ।

समान वर्ण या शब्दों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार कहलाती है । अर्थात् जहाँ समान वर्णों की बार बार आवृत्ति होती है वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है । जैसे -

'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।

लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥'

यहाँ 'ल' वर्ण की कई बार आवृत्ति हुई है ।

अनुप्रास अलंकार के पाँच भेद हैं - छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लयनुप्रास और अन्त्यानुप्रास ।

छेकानुप्रास में व्यजनों की एक बार क्रम से आवृत्ति होती है ।

वृत्यनुप्रास में एक व्यंजन की आवृत्ति एक या अनेक बार हेती है ।

श्रृत्यनुप्रास में एक ही उच्चारणस्थान से अच्चरित होने वाले व्यजनों की आवृत्ति होती है ।

लाटानुप्रास में एक शब्द या वाक्य की आवृत्ति समान अर्थ में होती है, पर केवल तात्पर्यगत भेद रहता है ।

अन्यानुप्रास में किसी पद्य के चरण के अन्त में मिलनेवाले तुक की समानता होती है ।

(२) यमक

यमक का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा या युगल ।

भिन्न भिन्न अर्थों को प्रकट करने वाले समान शब्दों की क्रमश: आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं, जैसे -

'कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।

या खाये बौराय नर वा पाये बौराय ।'

यहाँ पहले 'कनक' का अर्थ है सोना और दूसरे 'कनक' का अर्थ है धतूरा ।

(३) श्लेष

श्लेष का अर्थ है चिपका हुआ । एक शब्द में जब दो या उससे अधिक शब्द चिपके हुए होते हैं वहाँ श्लेष अलंकार होता है । जैसे -

'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून ।

पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून ।'

यहाँ 'पानी' श्लिष्ट पद है । इसके तीन अर्थ हैं - चमक, प्रतिष्ठा और जल ।

श्लेष अलंकार के दो भेद हैं - अभंग श्लेष और सभंग श्लेष ।

अभंग श्लेष में शब्दों का अंग -भंग करना नहीं पड़ता, किन्तु सभंग श्ळेष में शब्दोंका अंग -भंग करके भिन्नार्थों की प्रतीति होती है ।

(४) वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र उक्ति, यानी घुमाफिरा कर कहना ।

जहाँ कहनेवाले और सुननेवाले एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है । जैसे-

'लिखन बैठि जाकी सब गहि गहि गरब गरुर ।

भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥'

यहाँ उच्चारण के ढंग के कारण 'भए न केते' (कितने न हुए) का अर्थ 'सभी हो गए' हो जाता है ।

वक्रोक्ति अलंकार के दो भेद हैं - श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति ।

श्लेष वक्रोक्ति में श्लिष्ट शब्दों द्वारा एवं काकु वक्रोक्ति में वक्ता की कंठध्वनि की विशेषता से भिन्न अर्थ कल्पित किया जाता है ।

(५) वीप्सा

जहाँ आदर, घृणा, हर्ष, शोक, विस्मय आदि भावों को प्रभावशाली बनाने के लिए शब्दों की बार-बार आवृत्ति हो वहाँ विप्सा अलंकार होता है । जैसे-

'वर्ण-वर्ण है उर के कम्पन,

शब्द-शब्द है सुधि के दंशन,

चरण-चरण है आह !'

यहाँ वर्ण-वर्ण, शब्द-शब्द, चरण-चरण में वीप्सा अलंकार है ।

अर्थालंकार

जहाँ काव्य में अर्थ का चमत्कार हो वहाँ अर्थालंकार होता है । यह काव्य का चित्र धर्म है ।

अर्थालंकार अर्थ पर आश्रित है । अर्थ को चमत्कृत या अलंकृत करनेवाले अर्थाश्रित अलंकार ही अर्थालंकार हैं ।

यह शब्द विशेष पर आश्रित नहीं होता, इसमें शब्द विशेष के पर्याय का परिवर्तन सदय होता है ।

अत: अर्थ-निर्भर शब्द-निरपेक्ष अलंकार ही अर्थालंकार कहलाते हैं ।

अर्थालंकारों की संख्या अनन्त बतायी गई है । ऋग्वेद में अपना अलंकार का उल्लेख मिलता है । भरत ने तीन अर्थालंकारों का उल्लेख किया था - अपमा, दीपक, और रूपक । भामह ने इनकी संख्या ३५ मानी है ।

वर्गीकरण

अर्थालंकारों को मुख्य रूप से छ: वर्गों में रखा गया है । वे हैं -

(१) सादृश्यमूलक अर्थालंकार - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, सन्देह, भ्रम, उल्लेख, अन्योक्ति, समासोक्ति, दृष्टान्त आदि । इनमें उपमेय और उपमान की समानता का भाव रहता है ।

(२) विरोधमूलक अर्थालंकार-विरोधाभास, असंगति, विभावना, विशेषोक्ति, विषम आदि । इनमें विरोध का आभास मात्र होता है, पर विरोध नहीं होता ।

(३) श्रृंखलामूलक अर्थालंकार-एकावली, कारणमाला, मालदीपक, सार आदि । इन अलंकारों में वस्तुओं का क्रमबद्ध रूप से वर्णन होता है ।

(४) गुणमूलक अर्थालंकार -तद्‌गुण, परिसंख्या, अनुज्ञा, तिरस्कार, विनोक्ति, परिकर आदि । ये गुणावगुण या विशेषता का विभिन्न प्रकार से वर्णन करनेवाले अलंकार हैं ।

(५) अतिशयोक्तिपरक अर्थालंकार - अतिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति आदि ।

इन अलंकारों में किसी बात को सीमा से अधिक बढ़ा चढ़ाकर कहा जाता है ।

(६) व्यंग्यार्थमूलक अर्थालंकार-पर्यायोक्ति, व्यंग्योक्ति, व्याजस्तुति आदि ।

ये व्यंग्यार्थ की प्रतीति करानेवाले अलंकार हैं ।

यहाँ कुछ प्रमुख अलंकारों की चर्चा उदाहरण स्वरूप की जा रही है -

(१) उपमा

'उप' का अर्थ है समीप और 'मा' का अर्थ है नापना या तोलना । अतः उपमा का शाब्दिक अर्थ है दो वस्तुओं को एक दूसरे के समीप रखकर तोलना ।

जहाँ दो वस्तुओं में समान धर्म के आधार पर एक - दूसरे का समान कहा जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है ।

उपमा अलंकार के चार अंग हैं -

(१) उपमेय

(२) उपमान

(३) समान धर्म और

(४) वाचकशब्द

(१) उपमेय - जिसवस्तु की तुलना की जाती है उसे उपमेय कहते हैं ।

(२) उपमान - जिस वस्तु से उपमेय की समानता या तुलना की जाय उसे उपमान कहते हैं ।

(३) समान धर्म - जिस समान गुण, क्रिया आदि की समानता के कारण उपमेय की तुलना उपमान से की जाती है उसे समान धर्म कहते हैं ।

(४) वाचक शब्द - जिस शब्द के द्वारा उपमेय और उपमान में समानता सूचित की जाय उसे वाचक शब्द कहते हैं । जैसे-सा, से, सी, समान, सदृश, सरिस, ज्यों, जैसे आदि ।

उपमा अलंकार का एक उदाहरण इस प्रकार है -

'लोचन कुवलय - से विशाल,

आनन विधु-सा शोभाकर ।'

यहाँ लोचन (आँख) की उपमा कुवलय (कमल) से एवं आनन (मुख) की उपमा चाँद से दी गई है ।

इन पंक्तियों में उपमेय, उपमान, समान धर्म और बाचक शब्द निम्न प्रकार हैं -

	अंग	प्रथम पंक्ति	द्वितीय पंक्ति
१.	उपमेय -	लोचन	आनन
२.	उपमान -	कुवलय	विधु
३.	समान धर्म -	विशाल	शोभाकर
४.	वाचक शब्द -	से	सा

उपर्युक्त अंगों के आधारपर उपमा अलंकार के दो मुख्य भेद हैं - पूर्णोपमा और लुप्तोपमा ।

(१) पूर्णोपमा - जहाँ उपर्युक्त चारों अंग विद्यमान है वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है । इसका उदाहरण ऊपर दिया गया ।

(२) लुप्तोपमा - जहाँ चार आंगों में से कोई अंग लुप्त हो बहाँ लुप्तोपमा अलंकार होता है, जैसे -

'कोटि कुलिस सम वचन तुम्हारा'

यहाँ उपमेय है वचन, उपमान है कुलिस और वाचक शब्द है सम । किन्तु समान धर्म लुप्त है ।

दूसरा उदाहरण है -

'तापस-बाला गंगा निर्मल'

यहाँ उपमेय है तापस-बाला, उपमान है गंगा, समान धर्म है निर्मल, किन्तु वाचक शब्द लुप्त है ।

(२) रूपक

'रूपक' का शाब्दिक अर्थ है रूप ग्रहण करना । अतएव रूपक में एक वस्तु दूसरी वस्तु का रूप ग्रहण करती है ।

जहाँ समानता के कारण उपमेय और उपमान में एकरूपता दिखायी जाती है वहाँ रूपक अलंकार होता है । जैसे -

'चरण-कमल बंदौं हरिराई ।'

यहाँ उपमेय 'चरण' को उपमान 'कमल' बताकर एक रूपता दिखाई गई है ।

रूपक अलंकार के तीन भेद हैं -

(१) सांग रूपक,

(२) निरंग रूपक और

(३) परंपरित रूपक ।

(३) उत्प्रेक्षा

'अत्' का अर्थ है ऊपर या प्रधानता से । 'प्र' का अर्थ है विशेषकर अथवा बलपूर्वक, 'ईक्षा' का अर्थ है ईक्षण करना या देखना । अत: उत्प्रेक्षा का अर्थ हुआ एक वस्तु को बलपूर्वक दूसरी वस्तु के रूप में देखना उथवा किसी वस्तु को संभावित रूप में देखना ।

जहाँ उपमेय में कल्पित उपमान की संभावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है ।

संभावना बताने के लिए जो शब्द प्रयुक्त होते है वे हैं - जनु, प्राय, मानो, मनु, ज्यों आदि ।

उत्प्रेक्षा अलंकार का एक उदाहरण है -

'फूले काम सकल महि छाई,
जनु बरसा रितु प्रकट बुढ़ाई ।'

यहाँ उपमेय कास के फूल सें उपमान वर्षाऋतु के बुढ़ापे की संभावना की कल्पना की गई है ।

उत्प्रेक्षा अलंकार के तीन भेद हैं -

(१) वस्तूत्प्रेक्षा

(२) हेतूप्रेक्षाा और

(३) फलोत्प्रेक्षा ।

(१) वस्तुत्प्रेक्षा में एक वस्तु में अन्य वस्तु की संभावना की जाती है ।

(२) हेतूत्प्रेक्षा में अहेतु में हेतु की संभावना की जाती है ।

(३) फलोत्प्रेक्षा में अफल में फल की संभावाना की जाती है ।

(४) दीपक

दीपक का मतलब है भासित होना ।

जहाँ उपमेय और उपमान का एक ही धर्म भासित हो वहाँ दीपक अलंकार होता है, जैसे -

'सेवक सठ, नृप कृपण, कुनारी ।
कपटी मित्र सूल सम चारी ।'

यहाँ उपमेय शठ सेवक, कृपण नृप, कुनारी, कपटी मित्र और अपमान शूल में समान धर्म भाषित होता है ।

(५) विभावना

विभावना का अर्थ है विशेष भावना ।

जहाँ विशेष भावना की कल्पना की जाती है, अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की कल्पना की जाती है वहाँ विभावना अलंकार होता है, जैसे -

'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना ।
कर बिनु करन करै विधि नाना ।'

यहाँ पद के बिना चलने की, कान के बिना सुनने की, कर के बिना कर्म करने की कल्पना की गई है ।

विभावना अलंकार के मुख्य रूप से दो भेद हैं - शाब्दी विभावना और आर्थी विभावना ।

(६) अपह्नुति

अपह्नुति का अर्त है छिपाना, निषेध करना ।

जहाँ उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोप किया जाता है वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है । जैसे -

ओसों के निस नभ - दृग से
बहते थे आँसू झरझर ।'

यहाँ ओस उपमेय का निषेध कर आँसूका आरोप किया गया है ।

(७) सन्देह

सन्देह का अर्थ है संशय ।

जहाँ किसी वस्तु को देखकर निश्चय न हो, वरन् संशय बना रहे, वहाँ सन्देह अलंकार होता है । जैसे -

'सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है ।
कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है ।'

यहाँ निश्चित नहीं है कि साड़ी के बीच नारी है अथवा नारी के बीच साड़ी है या सारी ही नारी है अथवा नारी ही सारी है । इस संशय के कारण यह सन्देह अलंकार है ।

(८) समासोक्ति

जहाँ उपमेय के द्वारा उपमान का बोध हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है, जैसे -

'कुमुदिनिहूँ प्रफुलित भइ देखि कलानिधि सांझ ।'

यहाँ कुमुदिनी उपमेय से प्रेयसी का एक कलानिधि से नायक का बोध होता है ।

(९) दृष्टान्त

दृष्टान्त का मतलब है उदाहरण ।

जहाँ पहले एक बात कहकर फिर उससे मिलती जुलती बात उदाहरण के रूप में कही जाती है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है ।

इसमें दो वाक्य होते हैं एक उपमेय वाक्य और दूसार उपमान वाक्य । दोनों में बिम्ब - प्रतिबिम्ब भाव रहता है, जैसे -

'सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन ।
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि में ओझल हो घन ॥

यहाँ प्रथम वाक्य उपमेय वाक्य है और द्वितीय वाक्य उपमान वाक्य है । सुख-दुख और शशि तथा घन में बिंब- प्रतिबिंब भाव है ।

(१०) विरोधाभास

विरोधाभास का अर्थ है विरोध का आभास ।

जहाँ विरोध न रहने पर भी विरोध का आभास होता है वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है, जैसे -

'या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोई ।
ज्यों ज्यों बूडै स्याम रंग, त्यों त्यों उज्ज्वल होई ।'

इन पंक्तियों में विरोध का स्पष्ट आभास मिलता है । सामान्यतया श्याम रंग में डूबकर कोई वस्तु श्यामवर्ण ही होगी, उज्ज्वल नहीं । पर यहाँ श्याम रंग में डूबने में उज्ज्वल होने की जो बात कही गई है इसमें कोई तात्विक विरोध नहीं है, क्योंकि श्याम रंग से तात्पर्य श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग से है और उसमें अनुरागी का चित्त जितना डूबता रहेगा उतना ही उसकी मलिनता दूर होकर वह उज्ज्वल होता जाएगा । अत: यहाँ विरोधाभास अलंकार है ।

(११) असंगति

असंगति का अर्थ है संगति न होना ।

जहाँ कारण कहीं अन्यत्र हो और उसका कार्य कहीं अन्यत्र वर्णित हो वहाँ असंगति अलंकार होता है, जैसे -

'कोयल काली मतवाली है,

आम्रमंजरी झूम रही है ।'

यहाँ कोयल मतवाली है, पर आम की मंझरी झूम रही है । दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं ।

(१२) विशेषोक्ति

जहाँ कारण के होते हुए भी कार्य का न होना वर्णित हो वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है, जैसे-

'कृष्ण कमल मुख अहर्निश देखत तृप्ति न होय ।

गोपीजन सरसिज नयन सदा प्यासे सोय ।'

यहाँ श्रीकृष्ण के मुख को गोपियों के नेत्र दिन-रात देखते हैं, अत: उन्हें तृप्ति होनी चाहिए, परन्तु तृप्ति नहीं होती ।

(१३) अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति का अर्थ है अतिशय उक्ति, अर्थात् बढ़ाचढ़ाकर कहना ।

जहाँ वर्ण्यवस्तु या व्यक्ति का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता है वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है, जैसे -

'हनुमान की पूँछ में लगने न पाई आग ।

लंका सिगरी जल गई, गए निसाचर भाग ।'

यहाँ जलने की क्रिया का अत्यन्त बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है । हनुमान की पूँछ में आग लगने से पहले ही लंका जल गई और निशाचर भाग गये ।

अतिशयोक्ति अलंकार के छ: भेद हैं - रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, असंबंधातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति और अत्यन्तातिशयोक्ति ।

(१४) अर्थान्तरन्यास

अर्थान्तरन्यास का मतलब है अन्य अर्थ को रखना ।

जहाँ सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन हो वहाँ अर्थांतरन्यास अलंकार होता है । जैसे -

'बड़े न दूजे गुनन बिनु, बिरद बड़ाई पाय ।

कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ।'

यहाँ पहली पंक्ति में सामान्य कथन है और दूसरी पंक्ति में विशेष कथन के द्वारा उसका समर्थन किया गया है ।

(१५) व्यतिरेक

जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय की श्रेष्ठता व्यंजित हो वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है । जैसे -

'राधा-मुख को चन्द्रमा कहते हैं मति रंक ।

निष्कलंक है यह सदा, उसमें प्रकट कलंक ॥'

यहाँ मुख उपमेय को चन्द्र उपमान की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है ।

(१६) मानवीकरण

मानवीकरण का अर्थ है मानव करना या मानव के रूप मे देखना ।

यहाँ अमानवीय वस्तुओं की भावनाओं तथा कार्यों में मानवीय गुणों और उसके कार्यों का आरोप कर वर्णन किया जाता है, वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है । इसमें अमूर्त भावों को मूर्तरूप दिया जाता है । जैसे -

'झटक जाता था पागल वात,

धूलि में तुहिन कणों के हार ।'

यहाँ पवन को पागल व्यक्ति के रूप में चित्रित कर उसके द्वारा हार झटकने की बात कही गई है ।

(१७) काव्यलिंग

जहाँ समर्थनीय अर्थ का अन्य अर्थ के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है जैसे -

'कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय

या खाये बौराय नर वा पाये बौराय ।

यहाँ सोना में धतूरे से सौगुनी मादकता दिखकर उसे समर्थन किया गया है ।

उभयालंकार

जहाँ शब्द और अर्थ दानों में चमत्मकार हो वहाँ उभयालंकार होता है ।

यह शब्दालंकार और अर्थालंकार का मिश्रित रूप है ।

जहाँ कवि की उक्ति शब्दालंकार और अर्थालंकार में इस प्रकार घुले-मिले हों कि पृथक न हो सके वहाँ उभयालंकार होता है । इसमें दो या दो से अधिक शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार समन्वित रहते हैं ।

उभयालंकार के मुख्य भेद हैं संकर, संसृष्टि आदि ।

(१) संकर

जहाँ एक से अधिक अलंकार क्षीर-नीर न्यास से मिले हो, वहाँ संकर अलंकार होता है, जैसे -

'वचन-सुधा मुख श्रवन इत, कोकिल -कंठ लजात ।

होत विरह -विष बस अधिक, उत अलि, श्यामल गात ॥'

यहाँ रूपक और विरोधाभास अलंकार मिले हुए हैं ।

संकर अलंकार के तीन भेद हैं -

(१) अंगागीभावसंकर,

(२) सन्देहसंकर और

(३) एकवाचकानुप्रवेश संकर ।

(२) ससृष्टि

जहाँ दो या दो से अधिक अलंकार स्वच्छन्द रूप में रहते हों, तथा तिलतण्डुल न्याय से पहचाने जाते हों, वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है, जैसे -

'कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय ।

इहि खाये बौराय नर उहि पाये बौराय ।'

यहाँ अनुप्रास, यमक तथा काव्यलिंग अलंकार एक ही साथ हैं ।

संसृष्टि अलंकार के तीन भेद हैं -

(१) शब्दालंकार संसृष्टि - जिसमें केवल एकाधिक शब्दालंकार हो ।

(२) अर्थालंकार संसृष्टि - जिसमें केवल एकाधिक अर्थालंकार हो ।

(३) शब्दार्थालंकार संसृष्टि -जिसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों हो ।

२.५ रीति सिद्धान्त

रीति संबंधी सिद्धान्त है रीति सिद्धान्त । आचार्य वामन इस सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं । यूँ तो रीति संबंधी विचार वामन से पहले भी विद्यमान थे । किन्तु रीति को विस्तृत और व्यवस्थित धरातल प्रदान करने तथा 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर उसे काव्य की आत्मा उद्घोषित करने का प्रयास सर्वप्रथम वामन ने ही किया था ।

२.५.१ अवधारणा

'रीति' शब्द 'रीङ् गतौ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय का योग कर निष्पन्न हुआ है । अतः इसका शाब्दिक अर्थ है चाल, मार्ग, पद्धति, प्रणाली, ढंग, शैली आदि ।

भोजराज ने 'सरस्वती कंठभरण' में रीति शब्द को मार्ग का पर्यायवाची माना है ।

आचार्य वामन के अनुसार 'विशिष्ट पदरचना रीतिः' । अर्थात् पद अथवा वाक्य की विशिष्ट रचना रीति कहलाती है ।

आनन्दवर्धन ने पद संघटना को रीति माना है ।

कुन्तक ने रीति को कविप्रस्थान हेतु, अर्थात् रचनाशैली माना है ।

राजशेखर 'वचन विन्यास क्रम' को रीति मानते हैं।

विश्वनाथ ने पदों की संघटना को रीति माना है ।

निष्कर्षतः विशिष्ट पदरचना शैली ही रीति है ।

२.५.२ रीति का शास्त्रीय विवेचन

रीति का शास्त्रीय विवेचन नाट्यशास्त्र से ही प्रारंभ हुआ है । इसमें भरतमुमि ने प्रवृत्ति के अन्तर्गत चार शैलियाँ मानी हैं - आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली और उड्रमागधी ।

अग्निपुराण में वक्तृता कला के रूप में रीति के चार भेद किय गये हैं - वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी ।

भामह ने रीति का व्यापक अर्थ लेते हुए रीति के अर्थ में काव्य का प्रयोग किया है ।
दण्डी ने रीति का स्वरूप गुणों तक सीमित रखा था ।

काव्य संप्रदाय के रूप में रीति की प्रतिष्ठा आचार्य वामन ने ही की । उनके अनुसार रीति काव्य की आत्मा है - 'रीतिरात्मा काव्यस्य', वे काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर आश्रित मानते हैं । वे रीति को रचनाशैली मानते हैं, जो गुणों पर आश्रित है । गुण काव्य को सुशोभित करनेवाला नित्य धर्म है ।

वामन के पश्चात् आनन्दवर्धन ने रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन बताया है । उनके अनुसार पदसंघटना ही रीति है ।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में वक्रोक्ति को काव्य का जीवन स्वीकार करते हुए रीति को 'कविप्रस्थानहेतु' कहा है । इसका अर्थ है जिससे कवि प्रस्थान करे, दूसरे शब्दों में यह रचनाशैली है ।

राजशेखर ने 'वचनविन्यास क्रम' को रीति माना है, जो रचनाशैली से पृथक् नहीं है ।

विश्वनाथ ने रसों का उपकार करनेवाले अंग संस्थान के समान पदों की संघटना को रीति माना है ।

इसप्रकार भरतमुनि के समय से रीति का शास्त्रीय विवेचन हेता आया है । किन्तु रीति के संबंध में वामन का विचार ही श्रेष्ठ माना गया है । विशिष्ट पदरचना शैली ही रीति है ।

२.५.३ विशेषताएँ

रीतिसिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन के अनुसार 'विशिष्टपदरचना रीतिः' । अर्थात् पद अथवा वाक्य की विशिष्ट रचना रीति कहलाता है ।

वामन ने बिशिष्ट की व्याख्या करते हुए उसे विशेषगुणात्मा कथन कहा है । यानी विशिष्ट का अर्थ है गुणसंपन्न और गुणसंपन्नता ही सुन्दरता का द्योतक है । अतः सुन्दर पद-रचना करने की कला को ही रीति समझना चाहिए । सुन्दरतम रचना रस, अलंकार, गुण, शब्दशक्ति आदि सभी के समावेश होने पर ही होती है और पद-रचना में विशिष्टतापूर्वक इन्हीं का समावेश करने पर शैली या रीति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है ।

वामन ने जिस गुपवत्ता द्वारा विशिष्ट की उत्पत्ति मानी है वे गुण काव्य को शोभा प्रदान करते है । 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः' द्वारा यही मंतव्य मुखरित होता है । गुण और रीति, दोनों काव्यकी शोभा के साधन सिद्ध होते हैं । अतः स्पष्ट है कि वामन ने रीति का संम्बन्ध गुणों से माना है ।

अतः यहाँ गुणों की सामान्य चर्चा करना आवश्यक है ।

गुण

काव्य में चमत्कार, प्रवाह, ओज एवं प्रभाव उत्पन्न करने वाले तत्त्व गुण कहलाते हैं ।

भरतमुनि ने दोष के विपर्यय को गुण कहा है ।

दण्डी के अनुसार गुण काव्य का शोभाविधायक धर्म है ।

वामन ने काव्य के शेभाकारी धर्मों को गुण कहा है - 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः ।'

आनन्दवर्धन ने अंगीरूप रस के आश्रित धर्म को गुण कहा है ।

आचार्य मम्मट ने गुणों को रसाश्रित माना है । उनके अनुसार गुण रस का अंगरूप धर्म है जो उसी प्रकार उत्कर्ष प्रदान करता है, जैसे आत्मा को शौर्यादि गुण उत्कर्ष प्रदान करते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ ने भी रसके अंगीभूत धर्मों को गुण माना है ।

निष्कर्षत: गुण वह तत्व है जिसमें काव्य के रचनात्मक स्वरूप का अन्नयन करके रस को उत्कर्ष प्रदान करने की क्षमता है ।

भारतीय आचार्यों ने गुणों की संख्या भिन्न भिन्न बतायी है । आनन्दवर्धन ने द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुण माने हैं । उनसे प्रेरणा पाकर मम्मट ने इन तीन गुणों का महत्व प्रतिपादन किया है, जिसे परवर्ती सभी आचार्यों ने मान्यता दी है ।

(१) माधुर्य

आचार्य मम्मट के अनुसार चित्त को प्रसन्न करनेवाला गुण माधुर्य है ।

जिस रचना को पढ़कर या सुनकर हृदय आनन्द से द्रवित हो जाय और जिसमें कोमल, मधुर शब्दों का प्रयोग हो, किसी बड़े समास, ट वर्ग, रेफ और अनुनासिक वर्णों के संयोग का अभाव हो वहाँ माधुर्य गुण होता है ।

(२) ओज

आचार्य मम्मट के अनुसार चित्त को दीप्त और उत्तेजित करनेवाला गुण ओज है ।

जिस रचना को पढ़कर या सुनकर हृदय में आवेग एवं स्फूर्त्ति का संचार हो जाय और जिसमें विशेषत: कठोर वर्णों, द्वित्व एवं संयुक्त अक्षरों, समास बहुल तथा ट वर्ग युक्त शब्दों की योजना हो वहाँ ओज गुण होता है ।

(३) प्रसाद

आचार्य मम्मट के अनुसार प्रसाद गुण सूखे ईंधन में आग की भाँति तथा स्वच्छ पात्र में भरे जल की भाँति तुरंत मन में व्याप्त हो जाता है ।

जिस काव्य रचना को पढ़कर या सुनकर हृदय में अर्थ का प्रकाश हो जाय तथा जिसमें ऐसी सरल शब्द योजना हो, जिसके अर्थ प्रकार तत्क्षण स्पष्ट हो जाय जिस प्रकार निर्मल स्वच्छ जल के तल में पड़ी हुई वस्तु ऊपर से स्पष्ट दिखाई देती है, वहाँ प्रसाद गुण होता है । इसमें क्लिष्टता नहीं होती ।

रीति में इन गुणों का समावेश होता है ।

२.५.४ रीतिभेद

रीति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं - वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली ।

रुद्रट ने इन तीनों के साथ लाटी रीति का योग किया है ।

अग्निपुराण में भी रीति के ये चारभेद स्वीकार किये गये हैं,

रीति के मुख्य भेद तीन ही हैं - वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली, जो क्रमशः भारत के प्राचीन प्रदेश - विदर्भ, गौड़ और पांचाल के आधार पर रखे गये थे ।

कालान्तर में विद्वानों ने इन तीनों देशज नामों को पदावली के अनुसार परिवर्तित कर दिया ।

(१) असमस्त या समासरहित पदावली से युक्त रीति को वैदर्भी कहा जाने लगा ।

(२) समस्त या समासयुक्त पदावली विशिष्ट रीति को गौड़ी रीति कहा गया ।

(३) समस्तासमस्त, अर्थात् किंचित् समासयुक्त और किंचित् समासरहित पदावली से युक्त रीति पांचाली रीति कही गई ।

इन रीतियों के लिए वृत्तियों के तीनों नाम भी प्रयुक्त हुए -

(१) वैदर्भी के लिए मधुरावृत्ति,

(२) गौड़ी के लिए परुषा वृत्ति और

(३) पांचाली के लिए कोमला वृत्ति ।

साथ ही तीनों गुण भी इन रीतियों से संपृक्त हुए -

(१) वैदर्भी के लिए माधुर्यगुण

(२) गौड़ी के लिए ओज गुण और

(३) पांचाली के लिए प्रसाद गुण ।

इन रीतियों की सामान्य चर्चा यहाँ करना आवश्यक है ।

वैदर्भी रीति

विदर्भ आदि देशों में प्रचलित रीति वैदर्भी है । यह रीति काव्य की सर्वोत्तम रीति मानी गई है ।

आचार्य दण्डी ने वैदर्भी रीति को दस गुणों से युक्त माना है - श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्याप्ति , औदार्य, ओज, कान्ति और समाधि ।

वामन ने वैदर्भी रीति को समग्र गुणों से युक्त माना है । साथ ही वे इसे वीणा के स्वरों के समान मधुर और विलक्षण कांति से युक्त बताते हैं, वे इसे उपनागरिका भी कहते हैं ।

रूद्रट ने वैदर्भी रीति को समास रहित शैली माना है । उनके अनुसार यह रीति सुकुमार और कोमल गुणों से युक्त है और इसलिए श्रृंगार, करुण, प्रेयस् आदि रसों के लिए उपयुक्त है ।

राजशेखर ने भी रीति को समासरहित शैली के रूप में ग्रहण किया है । उनके अनुसार यह रीति स्थानानुप्रास और योग वृत्ति से युक्त है ।

कुन्तक ने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग के रूप में अभिहित किया है ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार माधुर्य गुण की व्यंजना करनेवाले वर्णों द्वारा वृत्तिहीन या अल्पवृत्तिवाली रचना वैदर्भी है । इसका दूसरा नाम ललिता भी है ।

आनन्दवर्धन इन गुणों से संपन्न वृत्ति को पूर्णतः समासरहित स्वीकार करते हैं तथा असमासा कहते हैं ।

निष्कर्षतः माधुर्यव्यंजक वर्णों से युक्त, दीर्घ समासों से रहित अथवा छोटे समासों वाली ललित पद रचना का नाम वैदर्भी रीति है । यह रीति श्रृंगार आदि ललित और मधुर रसों के लिए अधिक अनुकूल होती है, जैसे -

'नंदक नंदन कदंबक तरु तर धीरे धीरे मुरली बजावे ।
समय संकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोली पठावे
सामरी तोरा लागि, अनुरवन बिकल मुरारी ।
जमुना के तट उपबन उपबसल फेरि फेरि ततहि निहारि ।'

गौड़ी रीति

प्राचीन गौड़ देश में प्रचलित रीति गौड़ी रीति है । यह ओजपूर्ण शैली है ।

आचार्य वामन ने इसे ओजकान्तिमयी शैली के रूप में ग्रहण किया है, जिसमें उग्र पदों और समासों की बहुलता होती है । मधुरता और सुकुमारता का इसमें अभाव रहता है ।

रुद्रट ने गौड़ी रीति को दीर्घ समासवाली रीति माना है, जो रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्र रसों की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त होती है ।

राजशेखर के अनुसार दीर्घ समासवाली, सानुप्रास तथा योगवृत्ति संपन्न रीति गौड़ी रीति है ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ओजगुण प्रकाशक वर्णों से युक्त उद्‌भट रचना, जिसमें समास और विद्वतापूर्ण पदों का अधिक प्रयोग होता है, गौड़ी रीति है ।

इसी गौड़ी रीति का दूसरा नाम परुषा है । आचार्य मम्मट के अनुसार यह ओजगुण प्रकाश करने वाली और परुषा है - 'ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा ।'

आनन्दवर्धन इसे दीर्घ समासवृत्ति कहते हैं ।

आचार्य पुरुषोत्तम के अनुसार अलंकारों से अलंकृत, समासयुक्त, महाप्राण वर्णों से युक्त लम्बे वाक्यों वाली रचना गौड़ी होती है ।

निष्कर्षतः ओजप्रकाशक वर्णों से सम्पन्न, दीर्घ समासवाली शब्दाडम्बरवाली परुषा रीति ही गौड़ी रीति है, जैसे -

'इन्द्र जिमि जंभपर, बाडव सुरंभपर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज हैं ।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं ।'

पांचाली रीति

प्राचीन पांचाल देश की रीति पांचाली है ।

आचार्य वामन ने ही पहली बार इस रीति का उल्लेख किया था । उनके अनुसार यह माधुर्य और सुकुमारता से संपन्न रीति है । यह अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्तिरहित) मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती है ।

रुद्रट और राजशेखर के अनुसार पांचाली रीति लघु समासवाली है । यह स्वल्पानुप्रास और उपचार वृत्ति से युक्त मानी गई है ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पाँच-छः समासयुक्त पदों के बंधवाली रचना पांचाली है ।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने इसे कोमला वृत्ति कहा है ।

उदभट इसे ग्राम्या वृत्ति कहते हैं ।

आनन्दवर्धन इसे मध्यम समासयुक्त रीति मानते हैं ।

भोज के अनुसार ओज और कान्ति से समन्वित पदों की मधुर सुकुमार रचना पांचाली है ।

कुन्तक के मध्यम मार्ग से इसकी विशेषता देखी जा सकती है । यह मध्यमा रीति है, जो वैदर्भी और गौड़ी के बीच की स्थिति है ।

निष्कर्षत: मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त लघु समासवाली रीति पांचाली है, जैसे -

'मधुराका मुसकाती थी,
पहले जब देखा तुमको ।
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको ।

लाटी रीति

लाट का अभिप्राय प्राचीन गुजरात प्रदेश से है और उसी के आधार पर इस रीति का नाम 'लाटी' रखा गया है ।

रुद्रट के अनुसार लाटी मध्यम समासवाली और उग्र रसों के वर्णन के लिए उपयुक्त है ।

आचार्य विश्वनाथ ने लाटी को वैदर्भी और पांचाली के बीच की रीति माना है ।

पांचाली रीति का एक उदाहरण इस प्रकार है -

'चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन ।
निज शक्ति तरंगायित था
आनंद अंबु निधि शोभन । (कामायनी)

इनके अलावा राजशेखर ने मागधी नाम से अन्य एक रीति को भी स्वीकार किया है । इसे मैथिली रीति भी कहते हैं ।

भोज ने अवन्तिका नामक रीति का भी उल्लेख किया है ।

निष्कर्षत: रीति विशिष्ट पदरचना शैली होती है । इन विशिष्टताओं के मूल में गुणों का संपर्क है । इन्हीं के आधार पर रीति के भेद माने गये हैं । किन्तु तीन ही भेद सर्वस्वीकृत हैं । वे हैं वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली ।

२.६ वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति से संबंधित सिद्धान्त वक्रोक्ति सिद्धान्त है । आचार्य कुन्तक इस सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं । यूँ तो वक्रोक्ति की चर्चा प्राचीन काल से होती आ रही थी । किन्तु आचार्य कुन्तक ने ही वक्रोक्ति का विशद विवेचन प्रस्तुत करते हुए इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया । उनके अनुसार 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्', अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है ।

२.६.१ अवधारणा

वक्रोक्ति का शब्दार्थ है वक्र + उक्ति, अर्थात् टेढ़ी उक्ति या टेढ़ा कथन ।

साहित्य में इसका प्रयोग वाक्छल, क्रीड़ाकलाप अथवा परिहास कथन के रूप में होता है ।

भारतीय वाङ्मय में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है, पर काव्यशास्त्र में इसका सर्वप्रथम प्रयोग भामह के समय से मिलता है । उन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में 'इष्टावाचामलंकृति' कहकर शब्द और अर्थगत वैचित्र्य के रूप में वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल सिद्ध किया है । उनकी मान्यता है कि वक्रोक्ति से रहित चमत्कारहीन वाक्य काव्य के स्तर से गिर जाता है और वार्ता मात्र रह जाता है । उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को समान अर्थ में प्रयोग किया है तथा वक्रोक्ति के बिना अलंकार का अस्तित्व अस्वीकार कर दिया है ।

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में संपूर्ण वाङ्मय के दो भेद किये हैं - स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति ।

इनके अनुसार अनलंकृत स्वाभाविक कथन स्वभावोक्ति है ।

स्वभाव से भिन्न अतिशय कथन को उन्होंने वक्रोक्ति कहा है । इस प्रकार वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्यायवाची मानते हुए इसे सभी अलंकारों का मूल कहा है ।

वामन ने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है ।

आचार्य रुद्रट ने भी वक्रोक्ति को अलंकार तक ही सीमित रखा है ।

आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्यायवाची मानकर भामह के मत का किंचित् समर्थन किया है ।

अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति के सामान्य रूप को स्वीकार किया है । उनके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है उसकी लोकोत्तर स्थिति और इस लोकोत्तर का अर्थ अतिशयता ही है ।

जयदेव, मम्मट और विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है ।

आचार्य कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति को काव्यकी आत्मा मानते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की । उन्होंने आत्मा के स्थान पर जीवित शब्द का प्रयोग कर 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहा ।

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति कवि -कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता है । यह काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुगढ़ तत्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता की चमत्कृति का संचार होता है ।

२. ६.२ विशेषताएँ

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में वक्रोक्ति का विशद विवेचन करते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की है । इस सिद्धान्त में उन्होंने प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार कर लिया है और साथ ही साथ समस्त काव्यांगों- वर्ण चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबंध कल्पना आदि को उचित स्थान दिया है ।

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति वाक्-चातुर्य अथवा उक्ति -चमत्कार नहीं है, यह कवि-व्यापार अथवा कवि कौशल है ।

कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त की व्यापकता उनके काव्य-संबंधी दृष्टिकोण की व्यापकता पर आधारित है । वे शब्द और अर्थ दोनों के समुचित समन्वय को काव्य की संज्ञा देनेवाले प्रथम आचार्य हैं । उन्होंने वक्रोक्ति को शब्द या अर्थगत अलंकार न मानकर इन दोनों से बनने वाले काव्य-शरीर की आत्मा माना है ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' कहा है । वैदग्ध्य का अर्थ है निपुण कवि के काव्य-निर्माण करने का कौशल, 'भंगी' का अर्थ है विच्छिति, चमत्कार, चारुता, शोभा आदि और 'भणिति' का अर्थ है वर्णनशैली' ।

अतः कुन्तक के अनुसार काव्यनिर्माण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कारप्राण विचित्र कथन वक्रोक्ति है ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को विचित्र कथन भी कहा है ।

उन्होने विचित्र के तीन अर्थ किये हैं -

(१) शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द - अर्थ के साधारण प्रयोग से भिन्न प्रयोग

(२) शब्दार्थ-प्रयोग के प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न कथन

(३) सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त शब्द- अर्थ के प्रयोग से भिन्न कथन ।

कुतक ने वक्रोक्ति के चार लक्षण दिये हैं -

(१) वक्रोक्ति भाषाशास्त्रादि शास्त्रों तथा लोक - व्यवहार में प्रचलित अर्थ से भिन्न है ।

(२) वक्रोक्ति कवि-प्रतिभा के कौशल से चमत्कार रूप में विलक्षणपूर्वक प्रकट होती हैं ।

(३) वक्रोक्ति समस्त कवि-व्यपार - वर्ण, पद, वाक्य, प्रसंग, प्रबन्ध से सम्बन्ध रखती है ।

(४) वक्रोक्ति काव्य-मर्मज्ञों के मन में आनन्द उत्पन्न करनेवाली होती है ।

संक्षेप में कुन्तक के अनुसार सहृदयों के मन को आह्लादित करनेवाली, कवि -कर्म -कौशल से निःसृत चमत्कारी वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है ।

२.६.३ वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति का संबंध वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण, प्रवन्ध आदि समस्त कवि-व्यापार से माना है । इनके आधार पर उन्होंने वक्रोक्ति के छः भेद किये हैं -

(१) वर्ण-विन्यास वक्रता

(२) पद-पूर्वार्ध वक्रता

(३) पद-परार्ध वक्रता

(४) वाक्य वक्रता

(५) प्रकरण वक्रता और

(६) प्रबन्ध वक्रता

इनकी सामान्य चर्चा यहाँ की जा रही है ।

(१) वर्ण-विन्यास वक्रता

वर्ण-विन्यास वक्रता व्यंजन वर्णों के सौन्दर्य पर आश्रित है ।

वर्णों का इस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण विन्यास जो सहृदयों को आह्लादकारी ज्ञात हो, वर्ण-विन्यास वक्रता में समविष्ट होता है ।

इसके अन्तर्गत अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, विभिन्न वृत्तियाँ एवं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि शब्दगुणों का समावेश होता है ।

(२) पद-पूर्वार्ध वक्रता

पद के पूर्वार्ध के विन्यास का वैचित्र्य ही पद-पूर्वार्ध वक्रता है ।

इसे प्रकृति वक्रता भी कहते हैं ।

पर्याय, रूढ़ि, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, लिंग, क्रिया इत्यादि के विशेष प्रयोगों का वर्णन इसमें अन्तर्भुक्त है । इन्हीं के आधार पर पद-पूर्वार्ध वक्रता के दस रूप माने गये हैं-

(१) रूढ़िवैचित्र्य वक्रता

(२) पर्याय वक्रता

(३) उपचार वक्रता

(४) विशेषण वक्रता

(५) संवृत्ति वक्रता

(६) प्रत्यय वक्रता

(७) वृत्ति वक्रता

(८) भाववैचित्र्य वक्रता

(९) लिंगवैचित्र्य वक्रता

(१०) क्रिया वक्रता

(३) पद -परार्ध वक्रता

पद के उत्तरार्ध में प्रत्यय द्वारा जब वक्रता प्रकट की जाती है तब उसे पद-परार्ध वक्रता कहते हैं ।

इसे प्रत्यय वक्रता भी कहा जाता है ।

काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह (धातुपद) प्रत्यय एवं पद के आधार पर इसके सात भेद हैं ।

(४) वाक्य वक्रता

वाक्य या पद -समुदाय की वक्रता को वाक्य वक्रता कहते हैं ।

इसके अन्तर्गत कुन्तक ने अलंकारों को सम्मिलित किया है । साथ ही रस तथा वस्तु के वैचित्र्य को भी सम्मिलित किया है ।

वाक्य के प्रयोग जितने प्रकार से हो सकता है, उतने ही प्रकार की वाक्य वक्रता संभव है ।

(५) प्रकरण वक्रता

प्रसंग या प्रकरण विशेष के वर्णन में वैचित्र्य उत्पन्न करना प्रकरण वक्रता कहलाता है । किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने में प्रकरण वक्रता होती है ।

इसके अनेक रूप हो सकते हैं -

(१) जहाँ पर कवि असीम उत्साह के साथ किसी प्रसंग को प्रकट करता है, जैसे - 'रामचरितमानस' का धनुर्भंग प्रसंग ।

(२) जहाँ कवि अपनी रचना को ऊपर उठाने के उद्देश्य से अलौकिक रीति से नवीन कल्पना द्वारा प्रकरण की उद्भावना करता है, जैसे-'साकेत' में वशिष्ठ द्वारा दिव्यदृष्टि दान ।

(३) जहाँ इतिहास के कथा-प्रसंग में नवीन कल्पना की जाती है, जैसे-'पद्मावत' में रतनसेन की मृत्यु देवपाल के हाथों करना ।

(४) जहाँ किसी सामान्य प्रसंग को रसमय बनाने के लिए कवि उसका विस्तार से वर्णन करता है, जैसे सूरदास का भ्रमरगीत ।

(५) जहाँ प्रकरण के भीतर विशेष प्रसंग की कल्पना की जाती है ।

(६) जहाँ पर प्रबन्ध के अनेक प्रकरण एक - दूसरे के उपकारक - उपकार्य के रूप में आते हैं ।

(६) प्रबन्ध वक्रता

प्रबन्ध वक्रता का संबंध संपूर्ण प्रबन्ध से है । प्रबन्ध वक्रता में कुशल कवि कथा के नीरस अंशों को छोड़कर केवल सरस अंशों की अभिव्यक्ति करता है । इसके छः प्रमुख भेद हैं -

(१) मूलरस परिवर्तन वक्रता

(२) समापन वक्रता

(३) कथा -विच्छेद वक्रता

(४) आनुषंगिक फल वक्रता

(५) नामकरण वक्रता

(६) तुल्यकथा वक्रता

२.७ संभाव्य प्रश्न

आलोचनात्मक प्रश्न

१. रस की परिभाषा देते हुए रस संबंधी भारतीय आचार्यों की अवधारणाओं पर प्रकाश डालिए ।

(रस का शाब्दिक अर्थ - जो बहता है, जो आस्वादित किया जाय । रस का व्यावहारिक अर्थ - मन और हृदय में भाव उत्पन्न करने वाला । भरतमुनि से लेकर विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा, साहित्य दर्पण के आधार पर रस का स्वरूप वर्णन)

२. भरत के रस संबंधी सूत्र की व्याख्या कीजिए ।

३. रस के विभिन्न अंगों का विश्लेषण कीजिए ।

४. भाव क्या है ? उसके प्रकारों की चर्चा कीजिए ।

५. रस-निष्पत्ति का अर्थ क्या है ? विभिन्न आचार्यों के मतों का विवेचन कीजिए ।

६. साधारणीकरण का क्या तात्पर्य है ? इस विषय के संबंध में भारतीय आचार्यों के विचारों का विवेचन कीजिए ।

७. अलंकार का स्वरूप क्या है ? विभिन्न आचार्यों के मतों के आधार पर बताइए ।

८. अलंकारों के प्रमूख भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए ।

९. काव्यशास्त्र में रीतिसिद्धान्त का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए ।

१०. रीति के प्रमुख भेदों की चर्चा कीजिएं ।

११. वक्रोक्ति सिद्धान्त की विशेषताएँ बताइए ।

१२. वक्रोक्ति के प्रमुख भेदों पर प्रकाश डालिए ।

लघूत्तरी प्रश्न

१. विश्वनाथ ने रस के क्या लक्षण बताये हैं ?

२. भरतमुनि के अनुसार रस की परिभाषा क्या है ?

३. आलम्बन और उद्दीपन विभाव में अंतर स्पष्ट कीजिए ?

४. अनुभाव क्या है ?

५. व्यभिचारी भाव की परिभाषा देते हुए समझाइए ।

६. स्थायीभाव की विशेषताएँ बताइए ।

७. उत्पत्तिवाद क्या है ?

८. शंकुक ने रस निष्पत्ति की क्या व्याख्या की है ।

९. रस के संबंध में भट्टनायक के मत का उल्लेख कीजिए ?

१०. साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं ?

११. भामह ने अलंकार के बारे में क्या कहा है ?

१२. शब्दालंकार और अर्थालंकार में क्या अंतर है ?

१३. उभयालंकार की विशेषताएँ बताइए ।

१४. उपमा अलंकार को सोदाहरण समझाइए ।

१५. 'विशिष्ट पदरचना रीतिः' का अर्थ समझाइए ।

१६. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की व्याख्या कीजिए ।

१७. वैदर्भी रीति की विशेषताएँ बताइए ।

१८. गौड़ी रीति के लक्षण बताइए ।

१९. पांचाली रीति पर एक टिप्पणी लिखिए ।

२०. वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में क्या अंतर है ?

२१. कुन्तक द्वारा दिये गये वक्रोक्ति के लक्षण बताइए ।

२२. वर्ण-विन्यास वक्रता क्या है ?

२३. पद-पूर्वार्ध वक्रता और पद परार्ध वक्रता में क्या अन्तर है ?

२४. प्रकरण वक्रता पर एक टिप्पणी लिखिए ।

अति लघुत्तरी प्रश्न

१. भारतीय काव्यशास्त्र की सर्वप्राचीन उपलब्ध रचना क्या है ? (भरतमुनि का नाट्यशास्त्र)

२. काव्यादर्श के रचयिता कौन हैं ? (दण्डी)

३. किसने रस को काव्य की आत्मा घोषित किया है ? (विश्वनाथ ने)

४. 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति बताइए । (रस् धातु + अत् प्रत्यय)

५. 'रस्यते आस्वाद्यते इति रस:' का अर्थ क्या है ? (जो आस्वादित किया जाय वह रस है)

६. किस उपनिषद् में रस को ब्रह्मानन्द का पर्याय माना गया है ? (तैत्रिरीयोपनिषद्)

७. विश्वनाथ के द्वारा विरचित काव्यशास्त्र का नाम क्या है । (साहित्य दर्पण)

८. विभाव के क्या-क्या भेद हैं ? (आलम्बन और उद्दीपन)

९. सात्विक अनुभाव कितने माने गये हैं ? (आठ)

१०. व्यभिचारी भाव का दूसरा नाम क्या है ? (संचारी भाव)

११. व्यभिचारी भावों की संख्या कितनी है ? (तैंतीस)

१२. श्रृंगार रस का स्थायीभाव क्या है ? (रति)

१३. उत्पत्तिवाद की स्थापना किसने की है ? (भट्ट-लोल्लट ने)

१४. रस निष्पत्ति के संबंध में शंकुक ने किस वाद की स्थापना की है ? (अनुमितिवाद)

१५. भट्टनायक ने किस मत के आधार पर भुक्तिवाद की स्थापना की है ? (सांख्यमत)

१६. अभिनव गुप्त के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ क्या है ? (अभिव्यक्ति)

१७. अलंकार सिद्धान्त के प्रवर्तक कौन है ? (भामह)

१८. किस ग्रंथ में अलंकारों का सर्वप्रथम क्रमबद्ध विवेचन मिलता है ? (काव्यालंकार में)

१९. 'सौन्दर्यमलंकारः' - यह किसकी उक्ति है ? (वामन की)

२०. अलंकार के तीन प्रमुख भेद क्या-क्या हैं ? (शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार)

२१. अनुप्रास किस प्रकार का अलंकार है ? (शब्दालंकार)

२२. श्लेष का अर्थ क्या है ? (चिपका हुआ)

२३. अर्थालंकारों को मुख्य रूप से कितने वर्गों में रखा गया है ? (छः)

२४. रूपक किस प्रकार का अर्थालंकार है ? (सादृश्य-मूलक अर्थालंकार)

२५. उपमा अलंकार के कितने अंग हैं ? (चार)

२६. उपमेय का मतलब क्या है ? (जिसकी तुलना की जाय)

२७. जिस शब्द द्वारा समानता सूचित की जाय उसे क्या कहते हैं ? (वाचक शब्द)

२८. संसृष्टि किस प्रकार का अलंकार है ? (उभयालंकार)

२९. 'विशिष्ट पदरचना रीतिः' - यह किस आचार्य की उक्ति है ? (वामन की)

३०. किस आचार्य ने रीति को मार्ग का पर्यायवाची माना है ? (भोजराज ने)

३१. किसने रीति को काव्य की आत्मा कहा है ? (वामन ने)

३२. रीति के तीन मुख्य भेद क्या-क्या हैं ? (वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली)

३३. तीन गुण क्या-क्या हैं ? (माधुर्य, ओज और प्रसाद)

३४. गौड़ी रीति किस गुण के साथ समन्वित है ? (ओज)

३५. वैदर्भी और पांचाली के बीच की रीति का नाम क्या है ? (लाटी)

३६. 'काव्यालंकार' के रचयिता कौन हैं ? (भामह)

३७. किस आचार्य ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की है ? (कुन्तक ने)

३८. किसने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' कहा है ? (कुन्तक ने)

३९. कुन्तक के काव्यशास्त्र का नाम क्या है ? (वक्रोक्ति जीवितम्)

४०. कुन्तक ने वक्रोक्ति के कितने भेद माने हैं ? (छः)

२.८ सन्दर्भ ग्रंथ

१. काव्यशास्त्र - डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

२. काव्यशास्त्र के विविध आयाम - डॉ. सुधांशु कुमार नायक, विद्यासागर, कटक

३. रस मीमांसा - रामचन्द्र शुक्ल

४. रस सिद्धान्त - डॉ. नगेन्द्र

५. रस-छंन्द- अलंकार-विश्वंभर मानव

६. काव्य सिद्धान्त - डॉ. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री

-o-

ईकाई -३ (हिंदी आलोचना)

इकाई की रूपरेखा

३.० अभिप्राय

३.१ उपक्रम

३.२ परिभाषा

३.३ स्वरूप

३.४ आलोचना का इतिहास

३.५ आलोचना की पद्धति

- ३.५.१ समाजशास्त्रीय आलोचना
- ३.५.२ मनोविश्लेषणवादी आलोचना
- ३.५.३ सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना
- ३.५.४ शैलीवैज्ञानिक आलोचना

३.६ संभाव्य प्रश्न

३.७ संदर्भ ग्रंथ सूची

३.० अभिप्राय

भारतीय काव्यशास्त्र के इस पत्र में अभी तक जो कुछ हमने देखा वह मुख्यतः प्राचीन काव्यशास्त्र पर आधारित था । परन्तु साहित्य केवल प्राचीन काल तक सीमित नहीं रहा । इसका विकास आजतक होता रहा है और आगे भी होता रहेगा । आधुनिक काल में साहित्य की धारा में बहुत कुछ परिवर्तित हुआ है । अतः प्राचीन काव्यशास्त्र के मानदण्ड इसके लिए पर्याप्त नहीं हो पाते हैं । बदलते परिप्रेक्ष्य में साहित्य को समझने के लिए जो नई विधा चल पड़ी है, वह आलोचना के नाम से जाना जाता है, जो काव्यशास्त्र का आधुनिक विकसित रूप है । अतः इसी आलोचना शास्त्र से विद्यार्थियों को परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है । इसी बात को ध्यान में रखते हुए इस ईकाई के पाठ्यविषय निर्धारित किये गये हैं । इसमें सबसे पहले हिन्दी आलोचना का स्वरूप और उसके उद्‌भव-विकास की सामान्य चर्चा की जाएगी । इसके उपरान्त आलोचना की विभिन्न पद्धतियों से विद्यार्थियों को परिचित कराने का प्रयास किया जाएगा । यूं तो आलोचना की अनेक पद्धतियाँ हैं । किन्तु इनमें से चार पद्धतियों पर मुख्य रूप से विचार किया जाएगा । वे हैं - समाजशास्त्रीय आलोचना, मनोविश्लेषणवादी आलाचना, सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना और शैलीवैज्ञानिक आलोचना ।

३.१ उपक्रम

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर नजर डालने से यह पता चलता है कि कवियों ने, खासकर रीतिकालीन कवियों ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के मानदण्ड को स्वीकार करते हुए ही काव्य - रचना की है । रीतिकालीन काव्य भारतीय मानदण्ड में खरा उतरता है । रीतिकालीन आचार्यों ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में युगानुकूल विकास भी किया है ।

रीतिकाल के उपरान्त पाश्चात्य प्रभाव से साहित्य में काव्य के अतिरिक्त अनेक नई विधाओं का विकास हुआ । उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनी आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र आदि का उद्‌भव होने लगा एवं काव्य शैली में भी बहुत कुछ परिवर्तन हुआ, जिसे अब प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार परखना संभव नहीं हो पाता आलोचना की एक नई विधा भी शुरू हो गई, जिस में केवल काव्य नहीं, उपन्यास, कहानी आदि गय विद्याओं की भी समीक्षा करने की भी सामर्थ्य रहा ।

हिन्दी अलोचना में प्रवेश करने से पहले आलोचना के स्वरूप पर प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है ।

आलोचना

'आलोचना' शब्द 'लच्' धातु में ' आ' उपसर्ग और 'ल्युट' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है । 'लुच्' धातु का अर्थ है देखना । ' आ समन्तात् लोचनं' अवलोकनं इति आलोचनम् स्त्रियां आलोचना'

- अर्थात् किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना आलोचना है ।

आलोचना के इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए हिंदी में समालोचना और समीक्षा शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है । ये तीनों शब्द समानार्थक हैं ।

चूंकि आलोचना एक आधुनिक विधा है जो पश्चिम के प्रभाव से विकसित हुआ है, इसलिए पश्चिम की दृष्टि से इसका अर्थ भी समझ लेना आवश्यक है ।

इन्साइक्लोपीड़िया ब्रिटेनिका के अनुसार आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोषों की परख करना है । वर्सफील्ड के अनुसार आलोचना कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना है ।

३.२ परिभाषा

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी आलोचना की परिभाषाएँ दी हैं । डॉ. श्यामसुन्दर दास ने आलोचना के बारे में कहा है - ''साहित्य - क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है । यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है, यहाँतक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है । यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा ।''

डॉ. गुलाब राय के अनुसार ''आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उसकी रूचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है ।''

अत: आलोचना में अर्थ का स्पष्टीकरण, विषयों का वर्गीकरण तथा निर्णय आदि तत्वों का समावेश हो जाता है, इस कार्य के लिए इतिहास और तुलना का भी उपयोग किया जाता है, जिससे आलोचना में पूर्ण प्रामाणिकता का समावेश हो जाता है ।

३.३ स्वरूप

आलोचना मानव मन पर पड़ी किसी रचना की प्रक्रिया का व्यावहारिक रूप है ।

साहित्य के अध्ययन-मनन से मन पर उस रचना के संबन्ध में कुछ निर्णय बनते हैं, कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं । आलोचना इन्हीं निर्णयों तथा प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति करती है । यह अभिव्यक्ति आलोचना या समीक्षा का स्वरूप धारण करने के लिए तीन सोपानों से गुजरती हैं । इन सोपानों को आलोचना के तत्व कहते हैं, वे हैं -

(१) विषयबोध

(२) व्याख्या विश्लेषण और

(३) मूल्यांकन अथवा निर्णय ।

ये तीनों तत्व मिलकर ही आलोचना को पूर्णता प्रदान करते हैं ।

निष्कर्षत: आलोचना का मुख्य कार्य है रचना के भावना और उसके रचयिता के उद्देश्य का उद्घाटन । रचना के गुण-दोष का विवेचन और उसकी व्याख्या भी आलोचना के अन्यतम कार्य हैं । आलोचना मूल कृति की रस-प्राप्ति सें सहयोग देती है । यह मूलकृति को पढ़ने की प्रेरणा देती है और उसे सुबोध बनाती है । यदि मूल रचना लुप्त हो जाय तो आलोचना स्थान भी ग्रहण करती है ।

३.४ हिन्दी आलोचना का इतिहास

हिन्दी आलोचना का अपना वैशिष्ट्य है । इसका सैद्धान्तिक पक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र से और व्यावहारिक पक्ष पाश्चात्य समीक्षा से सम्बद्ध है । इसका बीजरूप भक्तिकाल में कृपाराम की 'हिततरंगिणी' में मिलता है । कृपाराम ही हिन्दी के सर्वप्रथम काव्यशास्त्री माने जाते हैं । उन्होंने अपने ग्रंथ में थोड़ा-बहुत रस निरूपण किया था । परन्तु हिन्दी में काव्य-रीति का सम्यक् समावेश सबसे पहले केशवदास ने किया । उसके उपरान्त चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसिह, पद्माकर आदि ने हिन्दी काव्यशास्त्र की धारा को अविछिन्न रखा । किन्तु इस शास्त्रीय धारा में मौलिकता के बदले संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुवाद ही लक्षित होता है ।

भारतेन्दु युग की आलोचना

हिन्दी आलोचना का सही आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही माना जाता है । भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' और अन्य पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी में आधुनिक आलाचना की नींव डाली । इस युग के बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में पुस्तक समीक्षा के द्वारा आलोचना की परंपरा स्थापित की ।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य आलोचना शैली के बीच एक सुन्दर समन्वय स्थापित हुआ । किन्तु इस युग के आलोचकों का ध्यान आलोच्य ग्रंथ के दोष-निरूपण पर ही अधिक लगा रहा ।

द्विवेदी युग की आलोचना

हिन्दी आलोचना का समुचित विकास आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से ही हुआ । वे 'सरस्वती' के संपादक के रूप में आलोचना-क्षेत्र में अवतरित हुए और अनेक पुस्तक समीक्षाएँ लिखीं । वे अच्छे समीक्षक होने के साथ साथ सुधारक भी थे, जिन्होंने साहित्यकारों को लिखने के लिए प्रोत्साहित किया और उन्हे दिग्दर्शन भी दिया । उन्होंने हिन्दी काव्यों को शृंगार-रसिकता के चंगुल से छुड़वाकर उसे जातीय आदर्शों एवं राष्ट्रीयता के मार्ग पर चलने के लिए एक प्रकार से विवश कर दिया । उनकी आलाचनाएँ अधिकर निर्णयात्मक थीं ।

इस युग के मिश्रबन्धुओं ने साहित्य की एतिहासिक और विश्लेषणात्मक परीक्षण पद्धति को अपना कर आलोचना को नई दिशा दी । उनके 'मिश्रबन्धु विनोद' में हिन्दी के कवियों की परिचयात्मक समीक्षाएँ प्रस्तुत की गईं एवं 'हिन्दी नवरत्न' में नौ प्रमुख कवियों के काव्य की विशेषताओं का विस्तृत वर्णन किया गया । 'हिन्दी नवरत्न' की रचना करके मिश्रबन्धुओं ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक आलोचना के साथ-साथ तुलनात्मक आलोचना को भी गति प्रदान की ।

द्विवेदी युग के अन्त में बाबू श्यामसुन्दर दास ने आलोचना के क्षेत्र में आकर हिन्दी में सर्वप्रथम वैज्ञानिक आलोचना-पद्धति का सूत्रपात किया । 'साहित्यालोचन' में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य - सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर आधुनिक साहित्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । 'साहित्यालोचन' में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यिक विधाओं का शास्त्रीय ढंग से विवेचन किया गया ।

द्विवेदी युग के आलोचकों ने साहित्य का मूल्यांकन करते समय पहलीबार राजनैतिक कारणों का प्रभाव स्वीकार किया ।

शुक्लयुग की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से ही हिन्दी आलोचना साहित्य में नूतन युग का आरंभ होता है । शुक्ल जी व्याख्यात्मक आलोचना में विशेष सिद्धहस्त रहे । उन्होंने प्राचीन भारतीय रस-सिद्धान्त को अपनाने के साथ साथ पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीयकरण किया । प्राचीन और नवीन के समन्वय से उनकी आलोचना पद्धति उत्कर्ष के शिखर पर पहुँची । वे सिद्धान्त-निरूपण में जितने दक्ष थे, उन सिद्धान्तों के परीक्षण में उससे अधिक निपुण थे । हिन्दी साहित्य का इतिहास, जायसी ग्रंथावली की भूमिका, चिंतामणि, तुलसीदास आदि उनकी प्रमुख समीक्षात्मक सर्जनाएँ हैं ।

इस युग के विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और कृष्ण शंकर शुक्ल ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में विशेष कार्य किया है । पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आधुनिक दृष्टि से संपन्न और उदाराशय समीक्षक थे ।

शुक्लोत्तर युग की अलोचना

शुक्लोत्तर युग के आलोचकों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी सर्वप्रमुख हैं । उनकी समीक्षा अत्यन्त व्यवस्थित और आधुनिक हिन्दी साहित्य को समझने का अनिवार्य साधन है । उन्हें स्वच्छन्दतावादी आलोचक माना जाता है ।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना असल में छायावाद की देन है और नवीन जीवन-दर्शन से प्रभावित है । छायावादी काव्य का मूल्यांकन करने के लिए आलोचना की इस पद्धति का विकास स्वयं छायावादी कवियों तथा आलोचकों ने किया था, उसके मानों को स्थापित करने के लिए भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों का उपयोग किया था । सुमित्रानन्दन पंत ने छायावादी आलोचना के तात्विक विवेचन में मानव - प्रेम, लोक-जीवन की एकता एवं निर्मित होती हुई विश्वमानवता की सिद्धान्त के रूप में स्वीकारा था ।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण पूर्ण शास्त्रीय होने पर भी नवीन आदर्शों और विचारों की समन्विति में सदा प्रगतिशील रहे ।

डॉ. नगेन्द्र रसवादी समीक्षक माने जाते हैं । वे भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा पद्धतियों का समन्वय करनेवालों में अग्रणी हैं, जिनके सैद्धांतिक विवेचन और व्यावहारिक परीक्षण में एक - सूत्रता विद्यमान है ।

प्रभाववादी आलोचक शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचनाओं पर छायावादी काव्य-शैली का प्रभाव है । वे मार्क्सवाद से प्रभावित किन्तु सांस्कृतिक उत्थान के लिए गाँधीवाद तक पहुँचने के समर्थक हैं । उनकी समीक्षा मुख्यत: तीन तत्वों को आधारभूत रूप में स्वीकार करके चली है-संस्कृति, स्वाधीनता और आर्थिक समस्या ।

बाबू गुलाबराय ने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा प्रणालियों का उदारतापूर्वक समन्वय किया है । वे अपनी समीक्षा में सामयिक समस्याओं के चित्रण के पक्षपाती हैं ।

डॉ. विनयमोहन शर्मा स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों में अग्रगण्य माने जाते हैं । वे युग की गतिविधि से पूर्णरूपेण परिचित होकर देश, काल और परस्थिति के सन्दर्भ में साहित्य का मूल्यांकन करना समीचीन मानते हैं ।

शुक्लोत्तर अन्य सैद्धान्तिक आलोचकों में पंडित राम दहिन मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, रामकुमार वर्मा, डॉ. भगीरथ मिश्र एवं व्यावहारिक आलोचकों में डॉ. सत्येन्द्र, जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, देवराज उपाध्याय, डॉ. देवराज, शिवनाथ, विश्वम्भर मानव आदि के नाम लिये जा सकते हैं ।

प्रगतिवादी आलोचना

हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना के क्षेत्र में शिवदान सिंह चौहान अग्रगण्य हैं । उन्होंने ही पहले अपने आलोचनात्मक निबंधों में प्रगतिवाद की व्याख्या की । उनकी आलोचना में साहित्यिक मूल्य की अपेक्षा प्रचार भावना अधिक है ।

डॉ. रामविलास शर्मा की विवेचना-पद्धति बहुत ही सुलझी हुई और सुष्ठु है, उन्होंने कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके अपनी आलोचना में उसका प्रयोग किया है । वे साहित्य को राजनीति का अनुगामी मानते हैं और उनकी आलोचना का आधार राजनीति है । उन्होंने अपनी विवेचना से प्रगतिशील साहित्य की विशेषताएँ ही दिखाई हैं ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मानने वाले डॉ. रांगेय राघव ने काव्य और कला का मूल वेदना में मानकर संगीत और श्रम का परिणाम कहा है । उन्होंने मार्क्स और भारतीय चिंतन परंपरा को समन्वित करने का अभूतपूर्व प्रयास किया है ।

अमृतराय ने हिन्दी साहित्य में मार्क्सवाद का सबसे अधिक गहन और वैविध्यपूर्ण विवेचन किया है । वे अपने अध्ययन में विस्तृत और अनुशीलन की प्रवृत्ति में अत्यन्त सजग रहे हैं ।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने जीवन दर्शन के रूप में मार्क्सवाद को ही स्वीकारा है । वे साहित्य को आन्दोलन का आधार मानते हैं ।

मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह कला और साहित्य को समाज के संदर्भ में देखना पसन्द करते है । उन्होंने मार्क्सवाद को एक विशाल आदर्श के रूप में ग्रहण किया है ।

अन्य प्रगतिवादी आलोचकों में हैं - प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, डॉ. मकखनलाल शर्मा, मन्मथ नाथ गुप्त आदि ।

प्रयोगवादी आलोचना

हिन्दी के प्रयोगवादी आलोचकों में सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ. जगदीश गुप्त, गिरिजाकुमार माथुर, कुंवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नेचिचन्द्र जैन तथा नकेनवादी कवि-आलोचक आते हैं ।

अज्ञेय की प्रयोगवादी आस्थाओं का आधार टी.एस्. इलियट तथा ज्याँ पाल सार्त्र हैं ।

धर्मवीर भारती के अनुसार साहित्यिक मान्यता जब किसी वाद के साथ जुड़ जाती है और वह वाद भी जब साहित्यिक क्षेत्र का होता है तब वह साहित्य को आगे बढ़ाने की अपेक्षा पीछे खींचने लगता है ।

लक्ष्मीकान्त वर्मा ने मुख्यतः सार्त्र, इलियट, अज्ञेय तथा देशी-विदेशी अस्तित्ववादी कलाकारों और समीक्षकों का आधार ग्रहण कर नई कविता को एक सैद्धान्तिक आधारभूमि प्रदान करने का प्रयास किया है । उन्होंने नई कविता के निम्नलिखित तत्वों को प्राधान्य दिया है -

(१) नई परिप्रेक्षणीयता

(२) अनुभूतियों के नये रूपान्तरण

(३) सौन्दर्यबोध के नये धरातल

(४) परंपरागत विकृत मूल्यों का परिष्करण

(५) मतवादी भ्रांतियों से मुक्ति पाने की कामना और

(६) तदात्म सत्य की वे परिधियाँ जिनमें हमारा रागात्मक बोध नये आयामों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है ।

डॉ. जगदीश गुप्त ने नई कविता पर प्रत्यक्षतः नवीन और परोक्षतः कतिपय परंपराओं से संयुक्त पद्धति से विचार किया है ।

समकालीन आलोचना

समकालीन आलोचकों में डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय उन प्रगतिशील समीक्षकों में हैं जिन्होंने सिद्धान्त -पक्ष और व्याख्या-पक्ष दोनों पर विस्तार से आलोचना की है ।

आधुनिकता की चुनौती को मार्क्सवादी दृष्टि से स्वीकार करनेवाले आलोचकों में डॉ. रमेश कुन्तल मेघ का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । उन्होंने आधुनिकता, आधुनिकीकरण, अकेलापन, मिथक और सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से विचार किया है । उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन को उपने विवेचन विश्लेषण और मूल्यांकन का आधार माना है ।

अन्य समकालीन आलोचकों में डॉ. कुमार विमल और डॉ. निर्मला जैन ने सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण किया है ।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ. सुरेश कुमार, डॉ. विद्यानिवास मिश्र और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ओलोचना में शैलीविज्ञान को आधार बनाया है ।

इसप्रकार भक्तिकाल में हिन्दी आलोचना का जो बीज बोया गया था वह धीरे धीरे अंकुरित, विकसित, पल्लवित और पुष्पित होकर समकालीन स्थिति में पहुँचा है, जो समकालीन साहित्य की समीक्षा के लिए अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ है ।

३.५ आलोचना पद्धति

आलोचना का मुख्य कार्य है रचना के भावन और उसके रचयिता के उद्देश्य का उद्घाटन । आलोचना के द्वारा कृति के गुण-दोष का विवेचन और उसकी व्याख्या भी की जाती है । आलोचना मूल कृति की रस-प्राप्ति से सहायता करती है । यह मूल कृति को पढ़ने की प्रेरणा देती है और उसे सुबोध बनाती है ।

आलोचना में उपर्युक्त कार्यों के निष्पादन के लिए आलोचक को विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग करना पड़ता है । उनके आधार पर आलोचना की अनेक पद्धतियाँ सामने आयी हैं ।

मोटे तौर पर आलोचना पद्धति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ।

(१) सैद्धान्तिक आलोचना में सिद्धान्तों का निरूपण होता है ।

(२) व्यावहारिक आलोचना में सैद्धान्तिक आलोचना के आधार पर साहित्यिक कृतियों की व्याख्या और उनका मूल्यांकन किया जाता है । इसके भी प्रभावात्मक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक आदि अनेक भेद हो सकते हैं ।

(क) प्रभावात्मक आलोचना में आलोचक का दृष्टिकोण प्रधान होता है । अत: यह विषय प्रधान आलोचना होती है ।

(ख) निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक न्यायाधीश की भांति कृति का मूल्यांकन कर अपना निर्णय देता है ।

(ग) कृति की व्याख्या करनेवाली आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना है । इसमें व्याख्या और विश्लेषण की प्रधानता रहती है । 'इसमें आलोचक को एक अन्वेषक के रूप में कार्य करना होता है, न्यायाधीश के रूप में नहीं ।

व्याख्यात्मक आलोचना के अनेक रूप होते हैं-शास्त्रीय, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय, शैली-वैज्ञानिक आदि ।

(१) शास्त्रीय आलोचना में शास्त्रीय सिद्धांत के आधार पर कृति की आलोचना की जाती है ।

(२) ऐतिहासिक आलोचना में कवि की कृति के पीछे जुड़े हुए इतिहास का शोध किया जाता है ।

(३) तुलनात्मक आलोचना में शास्त्रीय दृष्टि से दो या दो से अधिक कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है ।

विवेचन किया जाता है ।

(४) समाजशास्त्रीय आलोचना में कृति में विद्यमान सामाजिक तत्वों का विवेचन किया जाता है ।

(५) मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणवादी आलोचना मनोविज्ञान से अनुशासित होती है ।

(६) सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना में आलोचक साहित्य की समालोचना और उसके श्रेष्ठत्व की समीक्षा सौन्दर्यतत्व के अनुसार करता है ।

(७) शैली वैज्ञानिक आलोचना में शैली-विज्ञान के आधार पर कृति का विवेचन किया जाता है ।

उपर्युक्त आलोचना पद्धतियों में से चार महत्वपूर्ण पद्धतियों को पाठ्यक्रम में अन्तर्भुक्त किया गया है । वे हैं -

(१) समाजशास्त्रीय आलोचना

(२) मनोविश्लेषणवादी आलोचना

(३) सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना और

(४) शैली वैज्ञानिक आलोचना ।

इनकी सामान्य चर्चा नीचे की जा रही है ।

३.५.१ समाजशास्त्रीय आलोचना

समाजशास्त्र से संबंधित आलोचना समाजशास्त्रीय आलोचना है । इसे समाजवादी आलोचना भी कहते हैं, जिसका आधार है समाजवादी यथार्थवाद ।

इस आलोचना का दर्शन है कि साहित्य तथा समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है और साहित्यकार व्यक्ति रूप में समष्टि का अभिन्न अंग है । अत: साहित्यिक अनुशीलन के लिए सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है ।

साहित्य सामाजिक जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है । साहित्यकार केवल मानवीय अनुभवों को ही चित्रित नहीं करता, संपूर्ण जीवन को चित्रित करने के क्रम में वह समाज के जीवन को प्रभावित करनेवाले दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक प्रश्नों से जुझता है, उनपर विचार करता है, अनुभवों का उनसे रिश्ता जोड़ता है और एक दृष्टि से इन सबको परस्पर संयुक्त कर जीवन की संश्लिष्ट औरसमग्र पहचान उभारता है । इसलिए समाजशास्त्र और साहित्य एक दूसरे के बहुत निकट मालूम पड़ते हैं । साहित्य को सही रूप में परखने वाली दृष्थि समाजशास्त्रीय दृष्टि ही है ।

कृति और रचना को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने के संदर्भ में पश्चिम के विचारकों ने गंभीरता से विचार किया है । लुमिएँ गोल्डमान का कहना है कि साहित्य और समाज के सम्बन्ध

को सामाजिक वर्ग की विश्वदृष्टि से निर्मित व्यापक चेतना की समग्रता के माध्यम से विश्लेषित किया जाना चाहिए ।

समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति में केवल सामाजिक तत्वों की परीक्षा होती है ।

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सबसे पहले समाजशास्त्रीय आलोचना की नींव डाली । उन्होंने साहित्य के धरातल पर साहित्य और समाज को जोड़ा । स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हमेशा साहित्य को मनुष्य और उसके समाज के संदर्भ में ही देखा है, और मनुष्य-समाज की ओर दृष्टिपात करते समय हमेशा उन्होंने पीड़ितों, दलितों के समाज को रेखांकित किया है ।

प्रगतिवादी आलोचना

हिन्दी में समाजशास्त्रीय आलोचना प्रगतिवाद से मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुई । प्रगतिवादी आलोचना के प्रवर्तक मैक्सिम गोर्की माने जाते हैं, जिन्होंने साहित्य को सामूहिक काम माना है, जिसका उद्देश्य समाज का भौतिक कल्याण है ।

प्रगतिवादी आलोचना साहित्य के सामाजिक महत्व तथा प्रभाव का मूल्यांकन, निर्धारण और व्याख्या करती है । इसमें वर्ग-संघर्ष के आदर्शों और विचारधाराओं को प्राधान्य दिया जाता है और उन्हीं के अनुसार साहित्य का मूल्य निर्धारित किया जाता है । इसमें जीवन की अनुभूतियों और भावनाओ को तुच्छ और नगण्य माना जाता है ।

१९३६ में लखनऊ में आयोजित अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन में प्रगतिवाद का भारतीय स्वरूप सुनिश्चित हो गया । प्रेमचन्द ने ही सबसे पहले साहित्य का उद्देश्य सामाजिक जीवन का पथ प्रदर्शन करना और दलित -पीड़ितों की हिमायत करना बताया था ।

प्रगतिवादी आलोचना वस्तुवादी दृष्टि से रचना को एक सामाजिक पदार्थ मानते हुए उसके विभिन्न सौन्दर्य पक्षों का विश्लेषण करती है । यह मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ढाँचे पर निर्मित होते हुए भी भारतीयता में सुगंधित रहती है । प्रगतिवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने इस दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों का विवेचन करने के साथ साथ निराला की कविताओं को भी परखा है ।

मार्क्सवादी आलोचना

हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना आगे बढ़कर मार्क्सवादी आलोचना का रूप ले लेती है ।

मार्क्सवादी आलोचना कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है । मार्क्स ने भौतिकवादी जीवन दर्शन को ही रचनाकर्म का मूलाधार घोषित किया । रचनात्मक चेतना को एक सामाजिक उपज

मानते हुए उनका कहना है कि सारी कलाएँ अपने समय के सामाजिक विकास और आर्थिक संबंधों से अनुप्राणित होनी चाहिए ।

मार्क्सवादी चिन्तन को सबसे पहले सुनियोजित करनेवाले क्रिस्टोफर कॉडवेल के अनुसार कला की मोती समाज की सीपी से उद्‌भूत होता है । उनकी आलोचना पद्धति की मान्यता है कि कलाकार सामाजिक पृष्ठभूमि में प्रवेश करके उन्हीं मानदण्डों के आधार पर अपने समीक्षात्मक दृष्टिकोण का निर्धारण करता है । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अर्थतन्त्र को काव्य-चिन्तन का मूलाधार घोषित किया है ।

मार्क्सवादी आलोचना कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्दात्मक भौतिकवाद से सम्बद्ध होने के कारण उसे भौतिकवादी आलोचना भी कहते हैं । इसके अन्य नाम प्रगतिवादी आलोचना, सामाजिक यथार्थवादी आलोचना, सोवियत समीक्षा पद्धति भी हैं ।

यह भौतिकवादी आलोचना जीवन के बहुमुखी पक्ष के साथ सम्बन्ध स्थापित कर साहित्य का मूल्यांकन करती है । इस आलोचना प्रणाली का राजनीति से घनिष्ठ संबंध है । इसलिए मार्क्सवादी साहित्य और आलोचना में प्रचार भी विद्यमान है । भौतिकवादी आलोचना उपयोगिता को ही अपनी प्रधान कसौटी मानती है । इस आलोचना प्रणाली में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का अधिक महत्व है ।

अमृतराय के अनुसार 'मार्क्सवादी आलोचना साहित्य वह समाजशास्त्रीय आलोचना है, जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध का उदाहरण करती है । इस आलोचना पद्धति से साहित्य को वर्ग की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है । इसमें वर्ग-संघर्ष के आदर्श और विचारधाराओं को महत्व दिया जाता है । इसमें आलोचक राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं । अतः इसमें एक प्रकार से साहित्य की उपेक्षा हो जाती है, किन्तु जनजीवन से दूर रहकर मनमाने ढंग से साहित्य-सृजन करनेवाले लेखक और कवियों की रचनाओं के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना आ जाती है ।

निष्कर्षतः मार्क्सवादी आलोचक काव्य के उपयोगितावादी पक्ष का उद्‌घाटन करता है । काव्य की प्रेषणीयता का इसमें विशेष महत्व रहता है । मार्क्सवादी आलोचक ठोस धरातल पर रहने के कारण उसमें चमत्कार और प्रदर्शन का भाव नहीं होता, वह भौतिक यथार्थवादी दृष्टि लेकर चलता है और कभी-कभी मार्क्सवाद का प्रचारक भी बन जाता है । वह जनवादी और समाजोपयोगी रचना को महत्व देता है । इस आलोचना पद्धति से क्रान्ति की भावना जाग्रत होती है । इसमें साहित्य और समाज का संबंध स्पष्ट किया जाता है, जिससे साहित्य की काल्पनिक, पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी विचारधारा पर आघात लगता है ।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचकों ने वर्ग-संघर्ष और द्वन्दात्मक भौतिकवाद को साहित्य-चिन्तन का मेरुदण्ड माना । इनमें सबसे पहले शिवदान सिंह चौहान का नाम आता है । वे मार्क्सवाद के कट्टर समर्थक थे । उन्होंने अपने निबन्धो में साहित्य के मान -मूल्यों के प्रश्नों को उठाकर मार्क्सवादी दृष्टि से उनका उत्तर दिया है । चौहान जी प्रगतिवाद को साहित्य की विशिष्ट धारा के रूप में स्वीकार नहीं करते, उसे साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण मानते हैं । वे व्यक्तिवादी साहित्य का मूल्यांकन करते हुए बताते हैं कि इसमें मनुष्य और समाज की विकृति, कुंठा, कुत्सा तथा कुरूपता ही देखने को मिलती है ।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की मार्क्सवादी आलोचना में शालीनता की रक्षा हुई है । उनका मन्तव्य है कि मार्क्सवाद के अनुसार युग-विशेष में अन्तर्विरोध की स्थिति का होना स्वाभाविक है और इसमें मार्क्सवादी आलोचक का उद्देश्य प्रगतिशील तत्वों को खोज निकालना है और जन-कल्याण की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करना है ।

डॉ. रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के साथ साथ मार्क्सवादी दृष्टि से हिन्दी साहित्य की समूची परंपरा की नई व्याख्या की है, उन्होंने तुलसी के प्रगतिशील पक्ष का समर्थन किया, बिहारी के काव्य को अवांछनीय कहा, पंत के काव्य पर आपत्ति की एवं छायावाद के मूल में व्यक्तिवाद का घोर विरोध किया । उन्होंने प्रेमचंद के साहित्य की जनवादी परंपरा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की, छायावादी कवियों में निराला के व्यक्तित्व का अभिनन्दन किया ।

डॉ. नामवर सिंह ने मार्क्सवादी आलोचना को उच्चतम शिखर पर पहुँचाकर उसके सामने आई हुई चुनौतियों का भी साहसपूर्वक सामना किया । उनकी दृष्टि में छायावाद व्यक्तिवाद की कविता है, जिसका आरंभ व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करते हुए हुआ, किन्तु उसका अवसान व्यक्ति की शत्रुता में हुआ । वे छायावाद को द्विवेदी युग के काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में दिखाकर उस युग के ऐतिहासिक विकास के रूप में आंकते हैं । वे रहस्यवाद को आधुनिक युग की काव्यप्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर वैज्ञानिक रहस्यों के उद्‌घाटन की देन मानते हैं । इस प्रकार डॉ. नामवर सिंह की आलेचना पद्धति मार्क्सवादी सामूहिक चेतना से प्रभावित है, जिसके मूल में जनवादी प्रेरणा है और जिसके आधार पर प्रयोगवादी काव्य ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र है ।

चन्द्रबली सिंह की दृष्टि भी लोक -दृष्टि है, जिसकी पीठिका पर वे साहित्य का मूल्यांकन उपयुक्त मानते हैं । उसके अनुसार आलोचक में साहित्यकार के समान जीवन के मूलभूत संबंधों को देखने की शक्ति तथा क्षमता का होना आवश्यक है । पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में नये-नये सिद्धान्तों की उद्‌भावना का मूल कारण वे जीवन तथा समाज के विकास को समझने की अक्षमता तथा स्थिर दृष्टिकोण के अभाव में देखते हैं । उनके अनुसार मार्क्सवादी आलोचना वस्तु और रूप को अविभाज्य मानती है, अत: यह दृष्टिकोण अत्यन्त अपेक्षित है ।

हिन्दी के समकालीन मार्क्सवादी आलोचकों में नन्दकिशोर नवल, डॉ. मैनेजर पांडे, डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी, डॉ. सदाशिव द्विवेदी, डॉ. कुंवरपाल सिंह, डॉ. कमला प्रसाद, रमेश उपाध्याय, आनन्द प्रकाश उल्लेखनीय हैं ।

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति समाजशास्त्र पर ही आधारित है, जिसका विकास हिन्दी में प्रगतिवादी और मार्क्सवादी आलोचना के रूप में होती गयी है । इस पद्धति में जीवन के बहुमुखी पक्ष के साथ सम्बन्ध स्थापित कर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है ।

३.५.२ मनोविश्लेषणवादी आलोचना

आलोचना और मनोविज्ञान का संबंध बहुत गहरा है । किसी भी रचना का मूल्यांकन करते समय आलोचक रचना की प्रेरणा- भूमि और उसकी रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण के साथ रचनाकार की सूक्ष्म मन: स्थितियों पर भी प्रकाश डालता है, इस प्रकार की आलोचना मनोविज्ञान से अनुशासित होती है । इसे मनोवैज्ञानिक आलोचना कहते है ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि की कृति को समझने के लिए कवि के अन्तर्जगत और उसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना पड़ता है ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना कवि के अन्तरतम का अन्वेषण करती है, काव्य के मूल में स्थित भावों, आदर्शों और उद्देश्यों की आलोचना करती है और उनके कारण को चित्त की अन्त: प्रवृत्तियों में खोजने का प्रयास करती है । साहित्यकार की अन्त: वृत्तियों का प्रकाशन ही इस आलोचना पद्धति का मुख्य लक्ष्य होता है ।

सृजन प्रक्रिया में सर्जक की बाह्य चेतना से बढ़कर उसकी अन्तश्चेतना महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । अन्तश्चेतना का विश्लेषण मनोविज्ञान का विषय है ।

आधुनिक काल में इस मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात सिगमंड फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त के आधार पर हुआ । इसलिए इसे मनोविश्लेषणवादी आलोचना कहते हैं ।

सिगमंड फ्रॉयड के अनुसार साहित्य अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का साधन है । उन्होंने सौदर्यबोध और उसकी रसपिपासा के मूल में उसकी भोग कामना को अन्तर्निहित माना है । उसमें उसकी दमित भोग कामना का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य परिलक्षित होता है ।

फ्रॉयड के अनुसार हमारे मन के दो भाग हैं - चेतन और अचेतन । इनके बीच में एक तीसरा भाग है, जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पहले है । इसे फ्रॉयड ने पूर्व-चेतन कहा है । यह एक प्रकार से

अचेतन का द्वार है । चेतन की अपेक्षा अचेतन कहीं बृहत्तर और प्रबलतर है । चेतन वहभाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है, जिसका ज्ञान हमें रहता है । अचेतन वह भाग है जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें नहीं होता, परन्तु जो निरन्तर क्रियाशील रहकर हमारी प्रत्येक गतिविधि को अज्ञात रूप से प्रेरित और प्रभावित करता रहता है, यह अचेतन हमारी उन इछाओं और चेष्टाओं का पूंज है जो अनेक सामाजिक कारणों से मूलत: सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव में चेतन मन से मुँह छिपाकर नीचे पड़ जाती है और वहाँ से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती है । इस अवस्था में उन्हें अधीक्षक का सामना करना पड़ता है, जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक -रूप है । वह इन असामाजिक इच्छओं का दमन करने का प्रयास करता है । परन्तु यह दमन एक छल-मात्र होता है, दमित इच्छा अनेक छद्म रूप रखकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ लेती है । ये मार्ग हैं स्वप्न, चित्र, कलाा और साहित्य आदि । ये सब एक प्रकार से स्वप्न के विभिन्न रूप हैं । फ्रॉयड के इस सिद्धान्त को स्वप्न सिद्धान्त भी कहा जाता है ।

फ्रॉयड ने इस सिद्धान्त में जीवन की मूल शक्ति को काम अथवा राग कहा है । उनके अनुसार मनुष्य की सभी चेष्टाएँ इसी लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं । इसलिए उन्होंने कला और साहित्य को भी मानव के स्वप्न-चित्रों से उद्गत माना है ।

फ्रॉयड के इस सिद्धान्त को आगे बढ़ाने बाले कार्ल युग और अल्फ्रेड एडलर हुए । फ्रॉयड ने जहाँ जीवन की मूल प्रेरणा को काम भावना माना वहीं एडलर ने अधिकार भावना माना । जहाँ तक अचेतन मन का सिद्धान्त है, दोनों में कोइ खास फर्क नहीं है ।

फ्रॉयड आदि की यह मनोविश्लेषण सिद्धान्त विद्वान वर्ग में इतना आदृत और विवेचित हुआ कि साहित्य को इस दृष्टि से आलोचना करने का प्रयास शुरू हुआ, जो मनोविश्लेषणवादी आलोचना के रूप में परिचित हुआ । इसमें कवि के वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आन्तरिक और निजी जीवन की अनुभूतियों में उसकी कृति का मूल ढूंढा जाता है । यह आलोचना पद्धति किसी रचना-विशेष और उसके रचयिता के सम्बन्ध को स्पष्ट करना चाहती है ।

तल्लीनता की जिस मनोदशा में रचनाकार साहित्य का सृजन करता है उसी मनोदशा का विश्लेषण ही मनोविश्लेषणवादी आलोचना में किया जाता है ।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना ने साहित्य के मूल्यांकन के लिए मन की गुत्थियों और संवेगों को एक बृहत्तर फलक प्रदान किया है । अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद जैसे आन्दोलनों के कारण भी इस आलोचना पद्धति को विस्तार मिला है ।

इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति का उद्भव पाश्चात्य मनोविज्ञान की गोद में हुआ । यूरोप के अनेक समीक्षकों ने इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को रचनात्मक समीक्षा के लिए आवश्यक माना ।

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी समीक्षा शैली में मनोविज्ञान सम्मत चिन्तन को स्थान दिया ।

डॉ. नगेन्द्र ने भी भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या मनोविज्ञान के आधार पर ही की । उन्होंने फ्रॉयड की मान्यताओं के सन्दर्भ-में साधारणीकरण और रस प्रक्रिया का नवीन विश्लेषण किया ।

जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, डॉ. देवराज, इलाचन्द्र जोशी, नलिन विलोचन शर्मा आदि ने भी इस आलोचना का समर्थन किया । किन्तु यह समीक्षा भारतीय पृष्ठभूमि में संयमित रूप में विकसित हुई।

३.५.३ सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना

सौन्दर्यशास्त्र से संबंधित आलोचना ही सौन्दर्यशास्त्रीय या सौन्दर्यवादी आलोचना है ।

सुन्दरवस्तु के सर्जन अथवा आस्वादन के समय कलाकार और रसिक की आत्मा की विशेष अवस्था को सौन्दर्य चेतना कहते हैं । सौदर्य की अनुभूति ही सौन्दर्य चेतना है ।

सौन्दर्यानुभूति को अंग्रेजी में एस्थेटिक एकसपिरिएन्स कहते हैं । कलाकार की इस सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्यचेतना की आलेचना ही सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना है ।

सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना में आलोचक साहित्य की समालोचना और उसके श्रेष्ठत्व की समीक्षा सौन्दर्यतत्व के अनुसार करता है । इस आलोचना के अनुसार सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न होनेवाला आनुषंगिक आनन्द ही काव्य की कसौटी है । समालोचना का उद्देश्य भी रसोद्रेक ही है ।

आस्कर वाइल्ड ने इस आलोचना का विशेष समर्थन किया जो पश्चिम में विकसित होने के साथ साथ भारत में भी एक आधुनिक आलोचना पद्धति के रूप में भी आदृत हुआ ।

सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना में कल्पना तथा काव्य एवं कलागत अनुभूतिमय सौन्दर्य का विचार किया जाता है ।

अभिव्यंजनावाद, कलावाद तथा प्रभाववाद का सम्मिश्रण सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना में दिखाई पड़ता है । ये तीनों भी पश्चिम की ही देन हैं, जिन्हें हिन्दी आलोचना में भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रयोग करने का प्रयास किया गया है ।

पाठक के हृदय को प्रभावित करनेवाले तत्वों का विवेचन, सूक्ष्म अन्तर्निहित सौन्दर्य और सौष्ठव को आँकने का प्रयास करना और काव्य के आभ्यन्तर तत्व का अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करना ही इस आलोचना पद्धति का उद्देश्य है ।

सौन्दर्यवादी आलोचक शिव तथा सत्य से निरपेक्ष सुन्दर तथा आनन्द को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं । उनके लिए काव्य का एकमात्र प्रयोजन है सद्य: परिनिवृत्ति अथवा सौन्दर्य के माध्यम से आनन्द प्राप्ति । वे सरसता, अलौकिकता, अनिर्वचनीयता के आनन्दप्रद परिप्रेक्ष को ही सौन्दर्यतत्व स्वीकार करते है । उनके लिए सहृदय के लिए आकर्षण का केन्द्र बिन्दु सौन्दर्यतत्व है, जो सत्साहित्य का मेरुदण्ड है । सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना आधुनिकता की देन होने पर भी इसकी चर्चा प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में परोक्ष रूप में मिल जाती है ।

काव्य सौन्दर्य के विषय में भारतीय आचार्यें के प्राय: दो प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं -

(१) आन्तरिक और

(२) बाह्य

प्राचीन भारत के रस, ध्वनि और औचित्य संप्रदाय के आचार्य काव्य का सौन्दर्य मूलत: उसके अन्तस्तत्व में मानते हैं । रसवादियों ने रस को आस्वाद्य मान कर काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है । ध्वनिवादियों ने भी रस ध्वनि को सर्वाधिक महत्व दिया है । और औचित्यवादी औचित्य में ही काव्य का सौन्दर्य देखते हैं । आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचारचर्चा' में कहा है -

'अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा: सदा ।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम ।'

अर्थात् अलंकार तो अलंकार यानी बाह्य शोभादायक मात्र है, और गुण तो गुण ही है, किन्तु रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य ही है ।

ये आचार्य सौन्दर्य को काव्य का अन्तस्तत्व मानते हैं ।

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति संप्रदाय के आचार्यें के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उनकी रूप-निर्मिति में निहित है । इसलिए आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए इसे काव्य की शोभा करने वाला धर्म कहा है - 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।' आचार्य वामन ने भी 'सौन्दर्यमलंकारम्' कहकर अलंकार को सौन्दर्य का प्रतिष्ठापक कहा है । वे विशिष्ट पदरचना को रीति मानते हुए काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर आश्रित मानते हैं । वक्रोति सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता कुन्तक ने वक्रोक्ति में ही काव्य की विच्छिति, चमत्कार, चारूता और शोभा देखी है ।

इस प्रकार ये आचार्य सौन्दर्य को काव्य का वाह्यतत्व ही मानते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि से बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य में भेद व्यर्थ है । उन्होंने शारीरिक सौन्दर्य के साथ भाव सौन्दर्य का महत्व प्रतिपादित किया है । उनकी सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति का पर्याय है ।

शुक्लोत्तर आलोचना में सौन्दर्यवादी प्रवृतियों को समाहित करनेवाले प्रमुख आलोचक हैं आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी साहित्य में सत्य एवं सुन्दर की अनिवार्यता स्वीकारते हैं और शिव को अनावश्यक मानते हैं । उन्होंने छायावाद के सन्दर्भ में काव्य के अन्त: सौन्दर्य का उद्‌घाटन करते हुए उस काव्य के सौन्दर्यबोध की नये ढंग से विवेचित किया । उनके अनुसार 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान और विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है ।'

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सौन्दर्य सामंजस्य का ही अपर नाम है । उनकी आलोचना दृष्टि रचना के मूल सौन्दर्य और उसके विधायक तत्वों को समझने का प्रयास करती है । अर्थात् वे इस बात के समर्थक हैं कि साहित्य के सौन्दर्य का आस्वाद और परीक्षण साहित्य के ही मानदण्ड होने चाहिए ।

द्विवेदी जी काव्य की मूल प्रकृति को सामाजिक मानते हैं । वह जिस साहित्य में नहीं है वह अपने समस्त प्रसाधनों और संगीतमयता के बावजूद प्राणमय और प्रभावशाली नहीं हो सकता । लेकिन द्विवेदी जी इस प्रकार के इतर साहित्य को नगण्य या तुच्छ मानकर फैक नहीं देते । वे उसका भी विश्लेषण करते हैं आग्रही और रचनात्मक दृष्टि से । उनके अनुसार जिस काव्य में केवल शब्दालंकार झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम् होता है वह हलका अनुभूति जनक कम्पन उत्पन्न करता है ।

डॉ. नगेन्द्र ने अपनी कृति 'भारतीय सौन्दयशास्त्र की भूमिका' में सौन्दर्यशास्त्रीय प्रवृत्तियों का व्यवस्थित अनुशीलन किया है । इसमें सौन्दर्य को भिन्न भिन्न कोणों से देखा गया है । उन्होंने सौन्दर्यानुभूति को रसानुभूति से जोड़कर देखा है । रससिद्धान्त उनके लिए शास्त्र विनोद नहीं है, बल्कि साधुकाव्य निषेवण से निर्मित अन्त: संस्कारों की सहज संहिति है ।

इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित यह सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना पद्धति आधुनिकता की देन होनेपर भी भारतीय और हिन्दी आलोचना में इसका अपना वैशिष्ट्य है ।

३.५.४ शैलीवैज्ञानिक आलोचना

शैली का अर्थ है ढंग, रीति । इसका प्रयोग सामान्यत: साहित्यिक अभिव्यंजना की प्रविधि के रूप में होता है ।

शैलीविज्ञान एक आधुनिक आलोचना पद्धति है, जो अंग्रेजी स्टाइलिस्टिक्स का भाषान्तर है ।

शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान के परिसर में आता है । इसीकारण यह एक वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है । इसमें ध्वनि-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, शब्द कोश आदि की सहायता ली जाती है ।

शैलीविज्ञान आलोचना का वह नवीन आयाम है जो साहित्य का अध्ययन भाषा विज्ञान के सिद्धान्तो और प्रविधि के आधार पर करता है । आज भाषा विज्ञान में वैज्ञानिक प्रणाली इतनी विकसित हो गई है कि वह काव्यशास्त्र की दृष्टि को और गहरी एवं उसकी विवेचनात्मक प्रणाली को और वैज्ञानिक बना सकता है । किन्तु शैलीविज्ञान का सम्बन्ध सामान्य भाषा से न होकर साहित्यिक भाषा या काव्य-भाषा से है । इसलिए शैलीविज्ञान और भाषा विज्ञान के अंग भिन्न हो जाते हैं ।

शैलीविज्ञान यह स्वीकार करता है कि भाषा का प्रत्येक विशिष्ट रूप काव्य नहीं होता । भाषा और शैली में अन्तर होता है । शैलीविज्ञान का भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र से निष्पन्न होने की बात कई विद्वान करते हैं । क्योंकि शैलीविज्ञान की अधिकांश प्रविधियों का समावेश भारतीय कायशास्त्र में दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी इसके सूत्र खोजे जा सकते हैं । भारतीय काव्यशास्त्र तो मुख्यत: भाषा और सौन्दर्यात्मकता या विच्छिति का ही प्राकलन करता है । भामह, दंडी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि की काव्य- परिभाषाएँ शब्दार्थ के वैशिष्टय से सम्बद्ध हैं । इसी प्रकार इलियट, रिचार्डस, एर्जरा पाउंड, रैमन्स बुक्स आदि की आलोचनात्मक शब्दाबली में बहुत कुछ ऐसा है, जो शैलीविज्ञान में अन्तर्भुक्त हो जाता है ।

शैलीविज्ञान साहित्यिक आलोचना का सिद्धान्त भी है और प्रणाली भी । सिद्धान्त रूप में इसकी दृष्टि भाषावादी है । प्रणाली के रूप में इसमें विशिष्ट कृतियों के भाषिक सौंदर्य का विश्लेषण किया जाता है ।

विद्वानों ने शैलीविज्ञान और शैलीवैज्ञानिक अध्ययन में भेद किया है । डॉ. नगेन्द्र ने भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र, दोनों के संयोग से शैलीविज्ञान का जन्म माना है । उनके अनुसार विशिष्ट कृतियों का शैलीगत विश्लेषण, शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, शैलीविज्ञान है ।

शैलीविज्ञान और शैलीवैज्ञानिक आलोचना के बीच वही संबंध है जो सैद्धान्तिक समीक्षा और व्यवहारिक समीक्षा में है । शैलीविज्ञान की परिधि में दोनों का विवेचन है तथा इन सिद्धान्त और प्रविधियों के अनुसार कृति का अध्ययन शैलीविज्ञान का प्रायोगिक रूप है । किन्तु यह भी कहा गया है कि शैलीविज्ञान चूंकि विकास की आरम्भिक अवस्था में ही है, इसलिए इसकी परिधि अभी स्थिर नहीं हो पायी है ।

शैलीविज्ञान वास्तव में भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र के अनुबंध का क्षेत्र है । भाषाविज्ञान की अन्तर्दृष्टि से संदर्भित और उसकी विश्लेषणात्मक प्रणाली से संयुक्त काव्यशास्त्र ही शैली विज्ञान है । अतः इन दोनों विश्लेषणों से समुच्चय रूप में शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का स्थान निरूपित किया जा सकता है ।

इस दृष्टि से शैलीवैज्ञानिक आलोचना का कार्य साहित्यिक भाषा-शैली का वैज्ञानिक अध्ययन माना जा सकता है, जो समीक्षा को एक नवीन आयाम देता है ।

इन सिद्धान्तों के आधार पर शैलीवैज्ञानिक आलोचना में किसी साहित्यिक रचना का अथवा उसेक किसी अंश विशेष का, किसी रचनाकार का, तत्कालीन साहित्य का विश्लेषण किया जाता है ।

शैली वैज्ञानिक आलोचना सामान्य साहित्यिक आलोचना से भिन्न होता है, क्योंकि साहित्यिक आलोचना में किसी रचना या रचनाकार के अभिव्यक्ति पक्ष का विवेचन किया जाता है, किन्तु शैलीविज्ञान अभिव्यंजना पक्ष के साथ साथ उसके व्यंग्यार्थ का भी विवेचन-विश्लेषण करता है और भाषावैज्ञानिक प्रविधि के उपयोग से अनुशासित रहता है । भारतीय काव्यशास्त्र की अधिकांश मान्यताओं को किंचित परिवर्तन के साथ शैलीविज्ञान अपनी शाखाओं -प्रशाखाओं में भाषा - वैज्ञानिक संस्पर्श के साथ अपना लेता है ।

शैलीविज्ञान का निरूपण सामान्य भाषाविज्ञान के अन्दर न होकर प्रायोगिक भाषा विज्ञान के अन्दर होता है, क्योंकि सामान्य भाषा विज्ञान का अध्ययन सामान्य भाषा पर आधारित है, परन्तु शैलीविज्ञान का सम्बन्ध केवल साहित्यिक भाषा से है ।

शैलीवैज्ञानिक आलोचना में भाषिक विश्लेषण के साथ ही कथ्य की बारीकियों और प्रभावपक्ष की भी व्याख्या की जाती है । इस आलोचना शैली में भाषिक संरचना के ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य भी इससे सम्बद्ध रहते हैं ।

निष्कर्षतः शैलीवैज्ञानिक आलोचना भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र दोनों से उपजीव्य ग्रहणकर काव्य के भाषा और भाव, शब्द और अर्थ दोनों की आलोचना करती है ।

३.६ संभाव्य प्रश्न

आलोचनात्मक प्रश्न

१. आलोचना की परिभाषा देते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।

(आलोचना का शाब्दिक अर्थ, व्युत्पत्ति,परिभाषा और स्वरूप)

२. हिन्दी आलोचना के उद्भव और विकास पर एक निबंध लिखिए ?

३. हिदी आलोचना की विभिन्न पद्धतियों पर प्रकाश डालिए ।

४. हिन्दी समाजशास्त्रीय आलोचना की विशेषताएँ बताइए ।

५. मनोविश्लेषणवादी आलोचना का वैशिष्ट्य क्या है ?

६. सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना का महत्व बताइए ।

७. शैलीवैज्ञानिक आलोचना की विशेषताएँ बताइए ।

लघुत्तरीप्रश्न

१. भारतेन्दु युगीन आलोचना का परिचय दीजिए

२. द्विवेदी युगीन आलोचना की विशेषताएँ बताइए

३. हिन्दी आलोचना को रामचन्द्र शुक्ल की देन का आकलन कीजिए ।

४. हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए ।

५. सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

६. मार्क्सवाद क्या है ?

७. डॉ. नामवर सिंह की आलोचना पद्धति पर प्रकाश डालिए ।

८. शैलीविज्ञान क्या है ?

अतिलघूत्तरी प्रश्न

१. 'आलोचना' शब्द किस धातु से निष्पन्न हुआ है ? (लुच्)

२. भारतेन्दु किस पत्रिका के संपादक थे ? (कविवचन सुधा)

३. 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक कौन थे ? (महावीर प्रसाद द्विवेदी)

४. डॉ. नगेन्द्र किस प्रकार के समीक्षक माने जाते हैं ? (रसवादी)

५. अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन कब हुआ था ? (१९३६ में)

६. मनोविश्लेषणवाद के प्रथम प्रवक्ता कौन थे ? (सिगमंड फ्रॉयड)

७. शैलीविज्ञान को अंग्रेजी में क्या कहते हैं ? (स्टाइलिस्टिक्स)

३.७ सन्दर्भ ग्रंथ

१. हिन्दी आलोचना-विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन

२. हिन्द आलोचना का विकाश - डॉ. नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन

३. काव्यशास्त्र के विविध आयाम - डॉ. साधांशु कुमार नायक, विद्यासागर, कटक

४. आधुनिक हिन्दी आलोचना : एक अध्ययन - डॉ. मकखनलाल शर्मा ।

-०-